प्रवाल

भाग 2

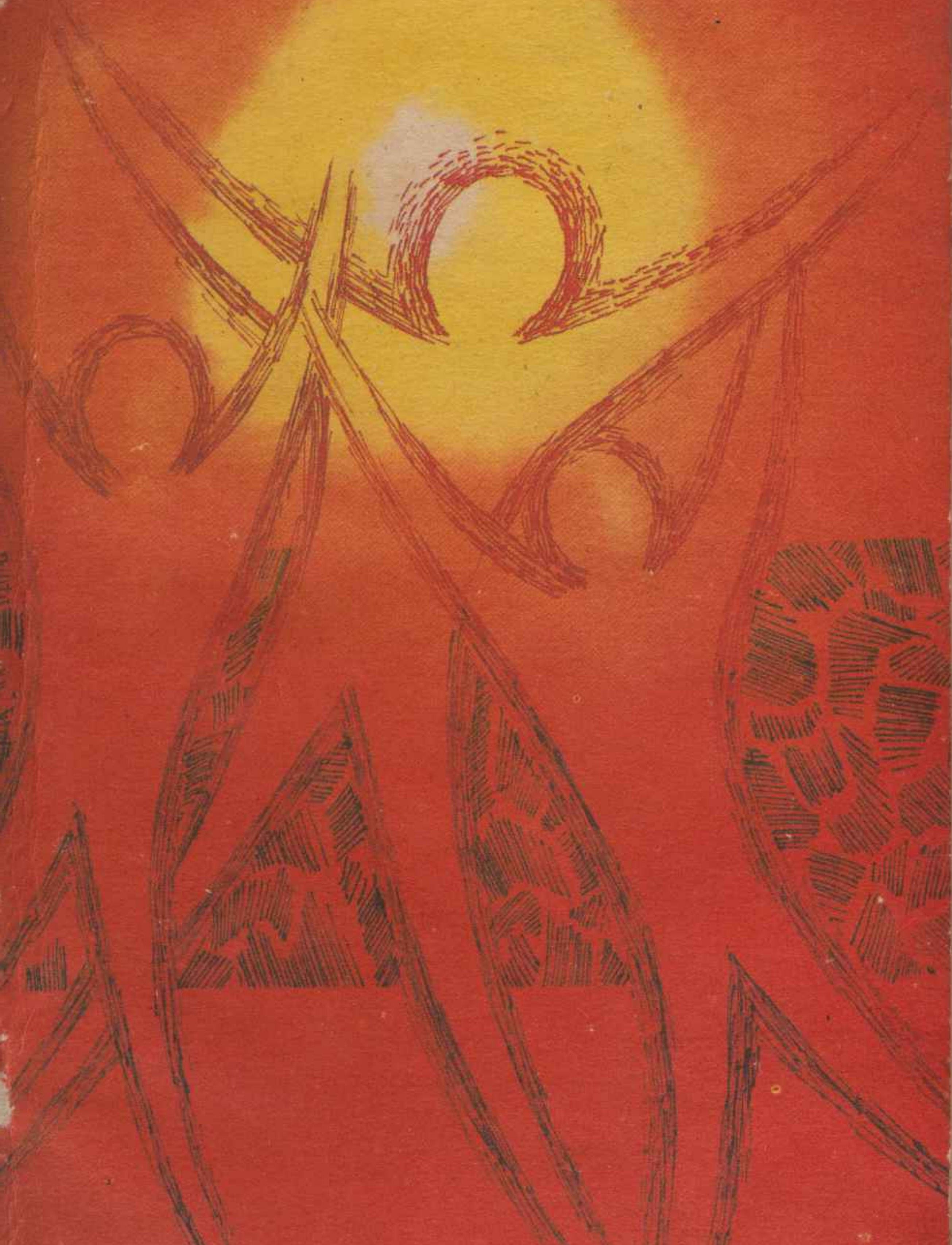

प्रवाल

भाग 2

कक्षा 12 के लिए वैकल्पिक हिन्दी की पाठ्यपुस्तक

अनिल विद्यालंकार
शशिकुमार शर्मा
अनिरुद्ध राय

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
फरवरी 1990 : माघ 1911

पुनर्मुद्रण
नवम्बर 1990 : कार्तिक 1912

P.D. 80T-OP

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 1990

सर्वाधिकार सुरक्षित

☐ प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलेक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फोटोप्रतिलिपि, रिकार्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुनः प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।

☐ इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय, या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।

☐ इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

मूल्य : रु. 5.50

प्रकाशन विभाग में, सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित तथा राकेश प्रैस, ए-7, नारायणा, इंडस्ट्रियल एरिया, फेज II, नई दिल्ली 110028 द्वारा मुद्रित।

आमुख

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के तत्वावधान में विद्यालय स्तर पर विभिन्न शैक्षिक विषयों के लिए पाठ्यक्रमों, पाठ्यपुस्तकों आदि के निर्माण का कार्य लगभग ढाई दशकों से हो रहा है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के लागू होने के साथ ही ऐसी शिक्षण-सामग्री की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा जो नई शिक्षा-नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक हो। इस नीति के अनुसार शिक्षा बाल-केन्द्रित होगी और छात्रों के सर्वांगीण विकास पर बल दिया जाएगा। नई शिक्षा-नीति में भारत के राष्ट्रीय जीवन के लिए आवश्यक कुछ महत्त्वपूर्ण मूल्यों को केन्द्रिक शिक्षाक्रम के रूप में स्थान दिया गया है। यह एक दूरगामी शिक्षा नीति है और यदि इसका पालन सही ढंग से किया जाए तो भारत के नव-निर्माण में इससे महत्त्वपूर्ण योगदान मिल सकता है।

नई शिक्षा योजना की महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी बाह्य संरचना का गठन नहीं है, अपितु वह परियोजना एवं दृष्टिकोण है जो शिक्षा का संबंध राष्ट्रीय विकास के साथ जोड़ने पर बल देता है। इस दृष्टि से नवीन पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में निम्नलिखित सिद्धांतों का विशेष रूप से समावेश किया गया है :

1. ऐसी पाठ्यसामग्री एवं शैक्षिक क्रियाओं का समावेश जिनसे बालकों में राष्ट्रीय लक्ष्यों-जनतांत्रिकता, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, सामाजिक न्याय तथा राष्ट्रीय एकता के प्रति चेतना एवं आस्था उत्पन्न हो और उनमें तर्कसंगत वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो।
2. पाठ्यचर्या एवं पाठ्यसामग्री भारत की जीवन-परिस्थितियों तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश पर आधारित हो

और उनमें वांछित भावी विकास की दिशा भी परिलक्षित हो।

3. पाठ्यपुस्तकें बालकों के भावात्मक एवं बौद्धिक उत्कर्ष, चरित्र-निर्माण तथा स्वस्थ मनोवृत्ति के विकास की दृष्टि से प्रेरणादायी सिद्ध हों, उनके द्वारा छात्रों में स्वयं शिक्षा एवं अधिकाधिक ज्ञानार्जन की उत्कंठा जाग्रत हो और वे निर्धारित पाठ्यविषय तक ही सीमित न रह कर विशद एवं व्यापक अध्ययन के लिए जिज्ञासु तथा तत्पर बने रहें।

4. नई शिक्षा नीति के आधारभूत सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए पाठ्यसामग्री के चयन में केन्द्रिक शिक्षाक्रम से संबंधित विषय सामग्री एवं जीवन-मूल्यों पर विशेष बल हो।

5. सांप्रतिक एवं भावी जगत् को सुखद-सुंदर बनाने वाली जीवन परिस्थितियों की ओर संकेत करने वाले पाठों का समावेश किया गया हो।

उपर्युक्त सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए विविध विषयों के पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तक-निर्माण की योजना तैयार की गई है। इस कार्य को सभी दृष्टियों से परिपूर्ण एवं प्रामाणिक बनाने के लिए राष्ट्रीय स्तर के विषय-विशेषज्ञों, अधिकारी विद्वानों एवं शिक्षकों का सहयोग प्राप्त किया गया है। इस संदर्भ में केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की हिन्दी समिति के अध्यक्ष डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव तथा अन्य सदस्यों के सहयोग के लिए मैं विशेष आभारी हूँ।

परिषद् के सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग के अध्यक्ष डॉ. अनिल विद्यालंकार (अब अवकाश प्राप्त) और रीडर डॉ. शशिकुमार शर्मा (अब अवकाश प्राप्त) ने विभाग में अपने कार्यकाल के दौरान इस पुस्तक के संपादन का कार्य किया। विभाग के डॉ. अनिरुद्ध राय ने इसका अंतिम प्रारूप तैयार किया तथा बड़े परिश्रम से इसका संपादन किया । मैं अपने इन सभी सहयोगियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

जिन कृती लेखकों ने अपनी रचनाएँ इस पुस्तक में सम्मिलित करने

की अनुमति दी है, उनके प्रति हम विशेष रूप से अनुगृहीत हैं।

आशा है, छात्रों की भाषिक तथा साहित्यिक रुचियों के विकास की दृष्टि से यह पुस्तक उपादेय सिद्ध होगी। इनके परिष्कार की दृष्टि से सुविज्ञजनों द्वारा भेजे गए सुझावों और परामर्शों का हम सदा स्वागत करेंगे।

पी.एल.मल्होत्रा
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

आभार

इस पुस्तक के निर्माण में कृपापूर्ण योगदान के लिए राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् निम्नलिखित विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती है –

डॉ. रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव *(अध्यक्ष, हिन्दी समिति, केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड)*, सुश्री कमल बासुदेव, श्री सुरेन्द्र पाल मित्तल तथा डॉ. हरिश्चंद्र *(सदस्य, केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड)*, श्री निरंजन कुमार सिंह, डॉ. आनंद प्रकाश व्यास, डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल, डॉ. मान सिंह वर्मा, डॉ. सुधांशु चतुर्वेदी, डॉ. एन. सुंदरम, डॉ. सुवास कुमार, डॉ. सच्चिदानंद सिंह साथी, डॉ. कमल सत्यार्थी, डॉ. जयपाल सिंह तरंग, श्री भागीरथ भार्गव, डॉ. (श्रीमती) संतोष माटा, श्री कौस्तुभ पंत, डॉ. श्याम बिहारी राय ।

गद्य के रूप

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल को गद्य काल कहा है। इसका कारण है, आधुनिक काल में प्रचुर गद्य-साहित्य का निर्माण और उसके 'अंतर्गत विविध विधाओं का विकास। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उन्नति और भारतीय जीवन के विविध क्षेत्रों–आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि में होने वाले विकास और परिवर्तन को अधिक आसानी और प्रभावशाली तरीके से गद्य में ही व्यक्त किया जा सकता है। अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों और शैलियों के कारण आधुनिक युग में गद्य की अनेक विधाओं का विकास हुआ है, जिनमें कहानी और उपन्यास के अतिरिक्त प्रमुख हैं–निबंध, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रा वृत्तांत, रिपोर्ताज।

इन गद्य-विधाओं में गुण और मात्रा की दृष्टि से निबंध का स्थान प्रथम है। अतः निबंधों से ही गद्य-चर्चा का आरंभ करना ठीक है।

साहित्य की गद्य-विधाओं में निबंध का विशेष स्थान है। इसी कारण 'गद्य कवीनां निकषं वदंति' कथन के आधार पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है, तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है। इसीलिए गद्य-शैली के विवेचक उदाहरणों के लिए निबंध ही चुना करते हैं।" निस्संदेह ही भाषा का जितना परिष्कृत, प्रांजल और परिनिष्ठित रूप निबंधों में मिलता है, उतना अन्य विधाओं में नहीं। अतः भाषा के शुद्ध, सुष्ठु और परिनिष्ठित रूप का ज्ञान निबंध-साहित्य के अध्ययन द्वारा अधिक संभव है।

निबंधों का अध्ययन-अध्यापन

'निबंध' शब्द का अर्थ है – सम्यक् रूप से बँधी हुई अथवा कसी हुई

रचना। इसका आशय यह है कि निबंध में विचार अथवा भाव पूर्णतः एक सूत्र में बँधे हुए रहते हैं। किंतु वास्तविकता यह है कि यह अपने शाब्दिक अर्थ को छोड़कर बंधनहीन-सा होता है। 'निबंध' अंग्रेजी शब्द 'एसे' का समानार्थी माना जाता है, जिसका अर्थ है : प्रयास अर्थात् 'एसे' में भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने का प्रयास होता है। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध निबंधकार बेकन ने निबंध को 'बिखरा हुआ चिंतन' कहा है। इसमें किसी विशेष विषय के प्रतिपादन या प्रस्तुतीकरण का एक सीमा तक तो आग्रह रहता है, किंतु निबंधकार इस बात के लिए स्वतंत्र है कि वह किसी भी बात को मौलिक ढंग से प्रस्तुत करे। इस कारण निबंधकार का व्यक्तित्व निबंध का एक प्रमुख तत्त्व है।

साहित्यिक जगत् में निबंध का प्रयोग एक ऐसी गद्य-रचना के लिए रूढ़ हो गया है, जिसमें लेखक का व्यक्तित्व न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य प्रतिबिंबित हो। यहाँ विषय-विवेचन में तत्त्वचिंतक या वैज्ञानिक की तरह तटस्थता नहीं बरती जाती, वरन् बुद्धि और हृदय का मेल बना रहता है। बुद्धि और हृदय के इसी सामंजस्य से निबंधकार की शैली का स्वरूप निर्धारित होता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में हम बुद्धि और हृदय के सामंजस्य को अच्छी तरह परख सकते हैं। आचार्य शुक्ल के निबंधों में विचारों की गूढ़ गुंफित शृंखला के साथ-साथ हृदय का मेल भी है, जिससे विचार और भाव का अद्भुत सामंजस्य घटित हुआ है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि "अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है, वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है।" यदि 'रमता' शब्द हटा दें तो निबंध, निबंध न रह कर एक विचार-प्रबंध मात्र रह जाएगा और इसी प्रकार 'अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहने' का तत्त्व हटा दें तो निबंधकार का न तो दृष्टिकोण ज्ञात होगा और न उसके व्यक्तित्व की निजता ही। इसी प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंधों में पांडित्य है लेकिन उनके निबंध पांडित्य के भार से दबे हुए कहीं नहीं हैं। उनका पांडित्य संवेदना की ऊष्मा में तपकर और सहज भावमयता में ढलकर सामने आया है। इस संकलन में आचार्य शुक्ल के निबंध 'देश-प्रेम' और द्विवेदी जी के

निबंध 'भीष्म को क्षमा नहीं किया गया!' में उपर्युक्त विशेषताओं को हम देखने का प्रयास करें।

निबंध किस विषय पर लिखा जाए, इस संबंध में किसी प्रकार की सीमा नहीं है। किसी भी विषय पर निबंध लिखा जा सकता है। निबंधकार में उस विषय को मनोनुकूल मोड़ देने की शक्ति होती है। लेखक को अभीष्ट विषय के संबंध में अपनी दृष्टि से विचार व्यक्त करने, तर्क और प्रमाण द्वारा अपनी बात सिद्ध करने की पूरी स्वतंत्रता रहती है। इसी कारण निबंध में निबंधकार का व्यक्तित्व प्रतिबिंबित हो उठता है। निबंध की भाषा-शैली भी तभी प्रभावशाली होती हैं, जब उस पर लेखक के व्यक्तित्व की छाप हो।

वस्तुतः विषयवस्तु का प्रतिपादन और लेखक के व्यक्तित्व की व्यंजना ही निबंध के मूल तत्त्व हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेजी के प्रसिद्ध साहित्यकार कार्लाइल का हवाला देते हुए लिखा है कि "निबंधों को देखकर किसी साहित्य की गहराई का अनुमान किया जा सकता है। उस महान् विचारक के मन में ऐसी गद्य रचनाएँ थीं, जिनमें केवल प्रलाप नहीं होता, केवल उथले विचारों का संकलन नहीं होता, बल्कि जिनमें गंभीरतापूर्वक कार्य-कारण की शृंखला का ध्यान रखते हुए विचार निबद्ध किए जाते हैं और उन निबद्ध विचारों की रीढ़ लेखक का अपना व्यक्तित्व होता है।" ये दो ही बातें निबंध की जान हैं। इन दोनों तत्त्वों के आधार पर निबंध की दो कोटियाँ मानी गई हैं—विषय-प्रधान निबंध और व्यक्ति-प्रधान निबंध। यह विभाजन इनमें से किसी एक तत्त्व की प्रधानता के आधार पर किया जाता है, अन्यथा निबंध में ये दोनों तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में रहते ही हैं। अतः निबंध के अध्ययन में इन दोनों पक्षों पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

व्यक्तित्व प्रकाशन के अतिरिक्त रोचकता और साहित्यिकता भी अच्छे निबंध के लक्षण हैं। कुछ निबंधकार सरलता और काव्यात्मकता के माध्यम से रोचकता लाते हैं और कुछ अन्य निबंधकार विषय और विषयांतर में संतुलन रखते हुए बुद्धि और हृदय के योग द्वारा विषय को रोचक बनाते हैं। इससे निबंध सोद्देश्य हो जाता है। उसके मूल में कोई आदर्श, कोई संदेश तथा जनहित का भाव रहता है। यथा प्रसंग हास्य,

व्यंग्य, विनोद और भाव-व्यंजकता के मेल से भी निबंध में रोचकता और रसात्मकता आ जाती है। निबंध पढ़ते समय हमें उसके भावात्मक स्थलों, हास्य, व्यंग्य, विनोद आदि पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

कभी यह धारणा थी कि बौद्धिक-पक्ष की साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम निबंध है और भावात्मक तथा अनुभूत्यात्मक पक्ष की साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम कविता है। निबंध विचारप्रधान साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है और कविता भावप्रधान साहित्य का। निबंध अपेक्षाकृत बौद्धिक, सृजनात्मक, तथ्यात्मक और नीरस रचना है तथा कविता भावात्मक, रसात्मक, कल्पनापरक, सरस और आह्लादकारी रचना है। पर यह मान्यता मिथ्या सिद्ध हो गई है। ऐसे निबंध भी लिखे गए हैं जो रसात्मक रचना की कोटि में आते हैं। इन निबंधों के माध्यम से व्यक्तिपरक भावात्मक एवं काव्यात्मक अभिव्यक्ति इतनी सरस, सशक्त और प्रभावपूर्ण होने लगी है कि इन्हें गद्यगीत अथवा प्रगीत मुक्तकों के समकक्ष मानते हैं। जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, रायकृष्ण दास, अध्यापक पूर्णसिंह, वियोगी हरि, रघुवीर सिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र के अनेक निबंध इस बात के प्रमाण हैं।

निबंध आकार में इतना छोटा होता है कि उसे एक बैठक में सरलता से पढ़ा जा सके, ठीक वैसे ही जैसे कथा-साहित्य में कहानी। कहानी की भाँति निबंध में भी विषय का निरूपण एकांगी होता है और उसका उद्देश्य भी एक ही होता है। सर्वांगीण चित्रण न होने पर भी कहानी की भाँति निबंध में भी पूर्णता दिखाई पड़ती है। कहानी में कहानीकार तटस्थ-सा रहता है, परंतु निबंधकार आत्मनिष्ठ रहते हुए भी पाठक के साथ सीधा तादात्म्य स्थापित करता है।

इस प्रकार आत्मीयता, सरसता, रोचकता, एकान्विति, स्वच्छंदता तथा आत्मनिष्ठता निबंध की मुख्य विशेषताएँ हैं। भिन्न-भिन्न निबंधकारों में ये लक्षण विभिन्न रूपों और न्यूनाधिक मात्रा में मिलते हैं। निबंधों के अध्ययन में यह आवश्यक है कि उनमें इन विशेषताओं की परख करें और यथावश्यक तुलना भी।

विषयवस्तु की दृष्टि से निबंध चार प्रकार के होते हैं :
(1) कथात्मक, (2) वर्णनात्मक, (3) विचारात्मक, (4) भावात्मक।

कथात्मक निबंधों में काल्पनिक वृत्त, आत्मचरितात्मक प्रसंग, पौराणिक आख्यान आदि का सहारा लिया जाता है, जैसे भारतेन्दु-युग में लिखे गए कुछ निबंध — राजा भोज का सपना, आपत्तियों का पर्वत आदि। यह ध्यान रहे कि कथात्मक निबंध में हलका कथासूत्र या उसका अंशमात्र रहता है अन्यथा जब कथा पर ही बल होगा तो वह रचना निबंध न होकर कहानी हो जाएगी।

वर्णनात्मक निबंधों में किसी स्थान, प्रकृति या मानव जीवन की घटनाओं का मनोरम और प्रभावपूर्ण वर्णन होता है, जैसे इस संकलन में 'बदलते रंगों में' (मोहन राकेश) यात्रा-वृत्तांत है, किंतु उसमें वर्णनात्मक निबंध की सारी विशेषताएँ हम देख सकते हैं। समुद्र तथा उसके प्राकृतिक परिवेश का वर्णन इतनी मनोहारी शैली में है कि उसका स्पष्ट चित्र हमारे मानस-पटल पर उभर आता है।

चिंतन प्रधान या विचारात्मक निबंधों में लेखक किसी विषय पर अपने विचार सुसंबद्ध रीति से अपने विशेष दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत करता है। विचार-प्रतिपादन या किसी सिद्धांत का निरूपण विचारात्मक निबंध का मूल तत्त्व है। ज्ञान-विज्ञान संबंधी निबंध इसी कोटि में आते हैं। चिंतामणि में संकलित आचार्य शुक्ल के निबंध इसी कोटि के हैं। इन निबंधों में तर्क, प्रमाण, शास्त्रोक्त कथन या उद्धरण द्वारा विषय-प्रतिपादन पर विशेष बल रहता है, किंतु जैसा पहले लिखा जा चुका है, निबंधकार यथाप्रसंग अपनी धारणाएँ, प्रतिक्रियाएँ, मनोभाव और अपनी जीवन-दृष्टि प्रस्तुत करता चलता है, जिससे रचना में उसका व्यक्तित्व और उसकी आत्मनिष्ठता प्रतिबिंबित होती है और वह पाठक को अपने साथ बहा ले चलता है। इस संकलन में 'देश-प्रेम' (आचार्य शुक्ल) 'भीष्म को क्षमा नहीं किया गया!' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी), 'जीने की कला' (महादेवी वर्मा), 'राष्ट्रीय एकता और जनतंत्र' (आचार्य नरेंद्र देव), 'दूषित अहम्' (गुलाब राय), 'भाषा बहता नीर' (कुबेरनाथ राय), 'कवि : प्रजापति' (रामविलास शर्मा), 'कलात्मक अनुभव' (मुक्तिबोध) निबंध विचारप्रधान निबंधों के उदाहरण

हैं, किंतु विषय-प्रतिपादन, व्यक्तित्व की अभिव्यंजना, भाषा और शैली की दृष्टि से उनकी विशेषताएँ अलग-अलग हैं, जिनके अध्ययन में अपेक्षित समीक्षात्मक दृष्टि आवश्यक है। इनके माध्यम से छात्र विचार-प्रधान निबंधों की अनेक कोटियों से परिचित हो सकते हैं और उनके सूक्ष्म अंतर को भी समझ सकते हैं।

भावात्मक निबंधों में लेखक के हृदय से निःसृत भावधारा ही प्रमुख होती है। भावोन्मेष की प्रवृत्ति ही इसका मूल तत्त्व है। लेखक के भाव ही उसके विचारसूत्र और अभिव्यक्ति को प्रभावित करते हैं। इसमें लेखक का उद्देश्य अपनी किसी संवेदनात्मक अनुभूति को सरस और काव्यात्मक भाषा द्वारा पाठक के हृदय तक पहुँचाना होता है। ये निबंध ललित निबंध भी कहे जाते हैं। "जहाँ निबंधकार वर्ण्य और दृश्य से अधिक शैली और शिल्प के लालित्य को महत्त्व दे और लालित्य व्याप्त करने में ही सार्थकता माने तो वह ललित निबंध माना जाएगा।"

निबंध को समझने और उसका रसास्वादन करने के लिए निम्नलिखित तीन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

1. निबंध की विषयवस्तु
2. लेखक का दृष्टिकोण और व्यक्तित्व
3. निबंध की शैली

विषयवस्तु

निबंध में सबसे पहले हमें यह देखना चाहिए कि उसका प्रतिपाद्य (विषयवस्तु) क्या है और किस प्रकार का है। यह विषयवस्तु किसी बाह्य दृश्य, स्थान या प्रकृति का चित्रण है अथवा घटना, पात्र आदि का वर्णन। किसी मनोभाव, विचार, समस्या या जीवन-दर्शन का निरूपण-विश्लेषण है अथवा किसी प्रसंग का भावात्मक अंकन मात्र।

निबंध में कलात्मक एकान्विति का रहना आवश्यक है। लेखक अपने विचारों की स्थापना में किसी विचार या भाव पर विशेष बल देता है, पारस्परिक तुलना और विरोध प्रकट करता है और नाटकीय परिवर्तन द्वारा विचार को अभीप्सित दिशा में मोड़ने की चेष्टा करता है।

विषय-प्रतिपादन के लिए वह अनेक तर्कों, प्रमाणों, दृष्टातों का सहारा लेता है, जीवन की परिस्थितियों और समस्याओं का विश्लेषण करता है, नए प्रश्न उठाता है, और अपनी दृष्टि से उनके उत्तर भी देता है, विरोधी मतों का खंडन करता है, कभी तर्क द्वारा और कभी व्यंग्य या उपहास द्वारा अपने मत या विचार की पुष्टि करता है। निबंध का अध्ययन करते समय विषयवस्तु के निर्वाह संबंधी उपर्युक्त तथ्यों को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए। साथ ही यह भी देखना चाहिए कि लेखक जिन तर्कों के आधार पर अपने निष्कर्ष पर पहुँचा है, उन तर्कों और निष्कर्ष में कहाँ तक संगति है और वर्णित तथ्यों से क्या आप भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे। निबंध की समीक्षा में इन तथ्यों की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

उदाहरण के लिए 'भीष्म को क्षमा नहीं किया गया!' निबंध में देखिए कि उसका प्रतिपाद्य विषय क्या है ? इस प्रसंग के माध्यम से लेखक ने आज के राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन के संदर्भ में किस अपराध बोध तथा किस कर्तव्य-बोध की समस्या उठाई है? उसने इसके लिए भीष्म पितामह को ही क्यों चुना? अपने विचार-स्थापन के लिए लेखक किन-किन प्रसंगों, प्रकरणों, तर्कों और प्रमाणों का आश्रय लेता है? भीष्म की किस महानता और निर्बलता तथा कृष्ण की किस श्रेष्ठता के विवेचन और संयोजन द्वारा वह एक निष्कर्ष पर पहुँचता है और इस सिद्धांत का निरूपण करता है— "करनेवाला इतिहास-निर्माता होता है, सिर्फ सोचते रहनेवाला इतिहास के भयंकर रथचक्र के नीचे पिस जाता है। इतिहास का रथ वह हाँकता है जों सोचता है और सोचे को करता भी है।"

इसी प्रकार अन्य निबंधों की विषयवस्तु को समझने का प्रयास करें। ध्यान केवल यह रखना है कि प्रतिपाद्य विषय किस प्रकार का है, उसका निर्वाह और विकास किस रूप में हुआ है। निश्चय ही विभिन्न प्रकार के निबंधों में उसका स्वरूप अलग-अलग होगा, किंतु विषयवस्तु के विश्लेषण की प्रक्रिया जान लेने पर विषयवस्तु के मर्म तक पहुँचना कठिन नहीं होगा।

लेखक का दृष्टिकोण और व्यक्तित्व

विषयवस्तु को जान लेने के पश्चात् लेखक के दृष्टिकोण की ओर ध्यान देना चाहिए। लेखक कभी किसी दृश्य या घटना के चित्रण द्वारा पाठक के मन पर कोई छाप छोड़ना चाहता है, कभी कुछ तथ्यों, दृश्यों या व्यापारों का विवरण देकर पाठक का ज्ञानवर्द्धन करना चाहता है और कभी उसे किसी दृश्य या अतीत की स्मृति में भावात्मक शैली से रमाना या किसी निष्कर्ष तक ले जाना चाहता है। इस प्रकार विषयवस्तु और दृष्टिकोण निबंध को समझने में एक बड़ी सीमा तक सहायक होते हैं।

निबंध में लेखक के दृष्टिकोण का विशेष महत्त्व होता है। वस्तुतः इसी के आधार पर वह विचारों, भावों या समस्याओं को मनोनुकूल मोड़ देता है और पाठक को अपने दृष्टिकोण से सहमत करने का प्रयास करता है। अतः निबंध में जो भी मूल्य, तथ्य, आवेग, संवेग, स्मृतियाँ, निजी मान्यताएँ, पूर्वग्रह आदि आते हैं, वे इसी पर आश्रित होते हैं और इसी के द्वारा उन्हें माना जा सकता है। निबंध में व्यक्तित्व की व्यंजना और आत्मपरकता का समावेश भी इसी उपकरण द्वारा होता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल या हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जिन मूल्यों, मान्यताओं और संस्कारों का संकेत अपने निबंधों में किया है, वे उनके विषय संबंधी दृष्टिकोण को ही सूचित करते हैं। ऐसे प्रसंगों में उनका व्यक्तित्व विशेष रूप से व्यंजित होता है। देश-प्रेम निबंध में कुछ प्रसंग देखिए :

''देश-प्रेम है क्या ? इस प्रेम का आलंबन क्या है ? सारा देश ......। यह प्रेम किस प्रकार का है ? साहचर्यगत प्रेम। देश-प्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का कोई भाव है तो यही हो सकता है। यदि यह नहीं है तो वह कोरी बकवाद या किसी और भाव के संकेत के लिए गढ़ा हुआ शब्द है।''

नकली देशभक्तों के प्रति उनकी झल्लाहट का जायज़ा लीजिए :

''मोटे आदमियो ! तुम ज़रा-सा दुबले हो जाते — अपने अंदेशे से ही सही— तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।''

साँची स्तूप देखने के प्रसंग में अपने साथी के कथन— ''यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे''— पर शुक्ल जी

की प्रतिक्रिया इन शब्दों में देखिए :

"मैं चुप हो रहा; समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।"

उपर्युक्त उदाहरणों में देश-प्रेम या प्रकृति-प्रेम के संबंध में शुक्ल जी की निजी मान्यता और धारणा व्यक्त होती है। उन्होंने देश-प्रेम के लिए साहचर्यगत प्रेम और प्रकृति-प्रेम की दृष्टि से भारत भूमि की साधारण से साधारण प्राकृतिक छटा और सौरभ को महत्त्व दिया है।

इसी प्रकार "भीष्म को क्षमा नहीं किया गया!" निबंध में लेखक के दृष्टिकोण, आत्मपरकता तथा व्यक्तित्व व्यंजना को अनेक स्थलों पर हम देख सकते हैं। भीष्म के संबंध में विचार-मंथन तथा अंत में एक सिद्धांत-सूत्र की स्थापना उनके दृष्टिकोण का ही परिचायक है। व्यक्तित्व-व्यंजकता तो द्विवेदी जी के प्रायः सभी निबंधों के विशेष गुण हैं। उपर्युक्त निबंध में देखिए—"डरना हो तो वे ही लोग डरें जिनकी गिनती हो सकती है। तुम क्यों घबराते हो, मनसाराम, तुम तो न तीन में न तेरह में। बड़ी राहत मिली इस यथार्थ बोध से।"

इसी प्रकार अन्य निबंधों में भी लेखक के दृष्टिकोण को जानने और विविध प्रसंगों में उसकी आत्मपरकता और व्यक्तित्व-व्यंजना को परखने का प्रयास करें। इनसे निबंध को समझने में ही नहीं, अपितु उसके सौंदर्य-बोध और रसास्वादन में भी सहायता मिलेगी।

शैली

निबंध के अध्ययन में उसके प्रतिपाद्य विषय और लेखक के दृष्टिकोण के साथ-साथ उसकी भाषा-शैली का परिचय भी आवश्यक है। निबंधकार का कौशल उसकी अभिव्यंजना-शैली में निहित होता है। शैली के लिए मुख्य रूप से यह देखना होता है कि अभीष्ट उद्देश्य के लिए विषयवस्तु का किस ढंग से प्रयोग किया गया है। किसी भी विषय के संबंध में अनेक छोटे-बड़े विवरण हो सकते हैं। लेखक अपने विचारों की पुष्टि के लिए कभी प्रमाण और उदाहरण देते हुए तर्कपूर्ण शैली का प्रयोग करता है और

कभी पाठक की रागात्मक वृत्तियों को जगानेवाली भावोत्तेजक शैली का। वह बिषय-प्रतिपादन में तथ्यों, प्रमाणों और तर्कों की तुलना और विरोध के लिए हास्य, व्यंग्य और विनोद का आश्रय लेता है जिससे निबंध अधिक सरस और आह्लादकारी बन जाता है।

यह लेखक पर निर्भर है कि वह अपने उद्देश्य के लिए किस प्रकार की शैली अपनाता है। आचार्य शुक्ल की सूत्रात्मक शैली प्रसिद्ध है। देश प्रेम निबंध में "परिचय प्रेम का प्रवर्तक है" कथन सूत्रवत् ही है, जिसकी व्याख्या करने की आवश्यकता पड़ती है। द्विवेदी जी के निबंध 'भीष्म को क्षमा नहीं किया गया!' में व्यक्तित्व-व्यंजक और आत्मपरक शैली का विशेष पुट है। गजानन माधव मुक्तिबोध का निबंध 'कलात्मक अनुभव' एक सैद्धांतिक समीक्षात्मक निबंध है जिसमें नए सौंदर्यबोध का विश्लेषण है, किंतु स्थान-स्थान पर संवेदनात्मक और भावात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। 'बदलते रंगों में' पाठ मोहन राकेश के यात्रावृत्त 'आखिरी चट्टान' से लिया गया है किंतु शैली की दृष्टि से वह चित्रात्मक भाषा-शैली का अच्छा उदाहरण है। "जीने की कला" व्याख्यात्मक शैली का उदाहरण है जिसमें मुख्यतः उद्‌बोधन का स्वर है। 'भाषा बहता नीर' और 'कवि : प्रजापति' विचार-प्रधान निबंध हैं जिनमें प्रमाण और तर्कपूर्ण व्याख्यात्मक शैली का आश्रय लिया गया है। 'राष्ट्रीय एकता और जनतंत्र' तथा 'दूषित अहम्' निबंध विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से विचार-प्रधान निबंध हैं। इनमें ऐतिहासिक उदाहरणों और प्रमाणों द्वारा विषयवस्तु के प्रतिपादन पर बल दिया गया है। 'राष्ट्रीय एकता और जनतंत्र' में जहाँ सामाजिक, राजनीतिक, और राष्ट्रीय परिस्थितियों की विश्लेषणात्मक शैली अपनाई गई है, वहाँ 'दूषित अहम्' में मनोवैज्ञानिक विश्लेषणात्मक शैली। 'निंदा रस' निबंध व्यंग्यात्मक शैली का अच्छा उदाहरण है जिसमें लेखक ने पग-पग पर अपने विचारों और प्रतिक्रियाओं को चुभते हुए व्यंग्यों के माध्यम से अभिव्यंजित किया है।

भाषा के विविध रूप और स्तर भी विचार अथवा आशय का प्रतिपादन करने में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ, व्यंग्य करते समय आचार्य शुक्ल तद्भव शब्दावली और उर्दू शब्दों का प्रयोग करते हैं तथा

गंभीर विचारों के लिए तत्सम शब्दावली का। भावात्मक निबंधों की भाषा में काव्यमयता और भाव प्रवणता का पुट अधिक रहता है। अतः निबंध में प्रयुक्त शब्दावली के आधार पर भाषा की पहचान की जा सकती है।

भाषा की प्रांजलता और समृद्धि केवल शब्द-चयन पर ही निर्भर नहीं है, विचारों को स्पष्ट वाक्यों और स्वाभाविक शैली में व्यक्त करना और भी महत्त्वपूर्ण है। जहाँ छोटे-छोटे सरल वाक्यों के प्रयोग से भाषा में सरसता, प्रवाहमयता और अर्थ की स्पष्टता बनी रहती है, वहीं लंबे-लंबे और परस्पर गुंफित वाक्यों के प्रयोग से भाषा दुरूह और जटिल बन जाती है। निबंध के अध्ययन में इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। टकसाली शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों, आम बोलचाल की भाषा आदि का उचित प्रयोग निबंध को अर्थवत्ता प्रदान करता है और उसमें एक नई जान डाल देता है। निबंध में गृहीत बिंबों, उदाहरणों और संदर्भों को भी प्रतिपाद्य विषय से संबद्ध करके देखना चाहिए।

अंत में हमें यह न भूलना चाहिए कि निबंध भी एक कलाकृति है। जिस प्रकार कविता, कहानी और नाटक आनंद की अनुभूति कराते हैं, उसी प्रकार निबंध भी आनंद की अनुभूति कराने में समर्थ होता है। आनंद के इन तत्वों की खोज से ही निबंध का अध्ययन अधिक सार्थक और उपादेय हो सकता है।

संस्मरण

लेखक के स्मृति-पटल पर अंकित किसी विशेष व्यक्ति के जीवन की कुछ घटनाओं का रोचक विवरण 'संस्मरण' कहलाता है। इसमें लेखक केवल उसी का वर्णन करता है जो उसने स्वयं देखा या अनुभव किया है। प्रायः इसमें कल्पना की उड़ान के लिए बहुत कम अवकाश रहता है। संस्मरण निकटता से देखे गए व्यक्तियों से संबंधित होता है, अतः इसका विवरण सर्वथा विश्वसनीय होता है, किंतु प्रस्तुतीकरण में संस्मरण लेखक स्वतंत्र होता है। वह अपने दृष्टिकोण से घटना तथा पात्रों का विश्लेषण करता चलता है। संस्मरण लेखक जब अपने विषय में लिखता है तो उसकी

रचना 'आत्मकथा' के निकट होती है और जब दूसरे के विषय में लिखता है तो 'जीवनी' के। क्योंकि दोनों ही रूपों में लेखक का अपना जीवन वर्णित घटनाओं से जुड़ा रहता है, इससे उनके वर्णन में विशेष सजीवता आ जाती है।

रेखाचित्र

'रेखाचित्र' शब्द चित्रकला का है जिसका अर्थ है – ऐसा खाका जिसमें सभी ब्यौरे न दिए गए हों। इसी के अनुकरण पर लिखने की इस विधा को रेखाचित्र कहते हैं जिसमें सर्वांगता का ध्यान न रखकर किसी व्यक्ति की आकृति, उसकी चाल-ढाल या स्वभाव की किन्हीं विशेषताओं का शब्दों द्वारा सजीव चित्रण किया जाता है। किसी स्थान का संक्षिप्त किंतु सजीव वर्णन भी रेखाचित्र में आ सकता है। थोड़ी-सी रेखाओं के द्वारा एक सजीव चित्र की सृष्टि करना किसी कुशल कलाकार का काम है। इसी प्रकार थोड़े-से शब्दों में किसी व्यक्ति, घटना, स्थान या वस्तु को चित्रित कर देना कुशल रेखाचित्रकार द्वारा ही संभव है।

रेखाचित्र को शब्दचित्र और स्केच भी कहते हैं। संक्षिप्तता और सजीवता रेखाचित्र के प्राण हैं। रेखाचित्र को पढ़ने से वर्णित व्यक्ति या स्थान का पूर्ण चित्र पाठक की आँखों के आगे उपस्थित हो जाता है। किसी व्यक्ति के रेखाचित्र में उसकी विशिष्ट मुद्राएँ, चेष्टाएँ, शारीरिक रचना, आकृति आदि को ज्यों-का-त्यों उभार दिया जाता है। इसका प्रभावशाली निदर्शन वहाँ होता है, जहाँ किसी व्यक्ति के कार्य-व्यापार द्वारा उसकी विशेषताओं का विवरण दिया जाता है। रेखाचित्रकार कम-से-कम शब्दों में सजीवता भर देने का प्रयत्न करता है और उसके छोटे-छोटे पैने वाक्य तीव्र और मर्मस्पर्शी होते हैं। रेखाचित्रों में यदि रामवृक्ष बेनीपुरी ने माटी की मूरते गढ़ी हैं तो महादेवी वर्मा ने अपने आश्रित सेवकों और चाकरों को ही नहीं बल्कि पालतू पशुओं को भी अमर बना दिया है।

यात्रा-वृत्तांत

किसी भी प्रकार की यात्रा के विविध अनुभवों और प्रतिक्रियाओं की

कलात्मक अभिव्यक्ति को यात्रा-वृत्तांत कहते हैं। यद्यपि इसमें वर्णनात्मक निबंध तथा संस्मरण दोनों के ही कुछ-कुछ तत्त्व पाए जाते हैं, किंतु यह इन दोनों विधाओं से भिन्न विधा है। घटनाक्रम की गतिशीलता, पल-पल परिवर्तित दृश्य-चित्रों की सजीवता, मार्ग में आने वाली अप्रत्याशित परिस्थितियों की रोमांचकता, कठिनाइयों का सामना करने की साहसिकता आदि यात्रा-वृत्तांत को ऐसा अनूठा आकर्षण प्रदान करते हैं जो उसे संस्मरण या वर्णनात्मक निबंध से भिन्न बना देते हैं। साथ ही यात्रा में एक नवीन खोज की उत्सुकता बनी रहती है। अतः सौंदर्यबोध की दृष्टि और खोजपूर्ण उल्लास की भावना से प्रेरित होकर यात्रा करने वाले यायावर एक-सी साहित्यिक मनोवृत्ति के माने जा सकते हैं और उनकी मुक्त अभिव्यक्ति को यात्रा-साहित्य कहा जाता है।

उत्कृष्ट यात्रा-वृत्तांत में यात्री के प्रस्थान, मार्ग और गंतव्य से संबंधित भौगोलिक तथा प्राकृतिक चित्रण के साथ-साथ यथाप्रसंग वहाँ की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन की झलक भी प्रस्तुत की जाती है और इस संपूर्ण वर्णन में लेखक की मानसिक प्रतिक्रियाएँ और धारणाएँ भी व्यंजित होती रहती हैं। किसी स्थान का यात्रा-वर्णन वस्तुतः उस स्थान द्वारा प्रतिबिंबित यात्री की मानसिक दशा का भी वर्णन होता है।

'आखिरी चट्टान तक' पुस्तक (मोहन राकेश) यात्रा-वृत्तांत का अच्छा उदाहरण है। इसी यात्रा-वृत्तांत का एक अंश 'बदलते रंगों में' इस पुस्तक में संकलित है। इसमें गोवा से कन्याकुमारी तक की यात्रा समुद्र मार्ग से करते समय समुद्र के बदलते हुए सौंदर्य का मनोहारी चित्रण है।

इसी प्रकार गद्य साहित्य की अन्य विधाओं—जीवनी, आत्मकथा, रिपोर्ताज आदि के लक्षणों और विशेषताओं को जानकर तत्संबंधी रचनाओं का हम अध्ययन और आस्वादन कर सकते हैं।

गांधी जी का जन्तर

तुम्हें एक जन्तर देता हूं। जब भी तुम्हें सन्देह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ:

जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

मो. गांधी

विषय-सूची

	आमुख		iii
	आभार		vi
	गद्य के रूप		vii
1	रामचन्द्र शुक्ल	देश–प्रेम	3
2	मोहन राकेश	बदलते रंगों में	9
3	महादेवी वर्मा	जीने की कला	17
4	हजारी प्रसाद द्विवेदी	भीष्म को क्षमा नहीं किया गया!	27
5	हरिशंकर परसाई	निन्दा रस	36
6	कुबेरनाथ राय	भाषा बहता नीर	44
7	नरेंद्र देव	राष्ट्रीय एकता और जनतंत्र	53
8	गुलाब राय	दूषित अहम्	60
9	रामविलास शर्मा	कवि:प्रजापति	67
10	गजानन माधव मुक्तिबोध	कलात्मक अनुभव	74
	शब्दार्थ एवं टिप्पणियाँ		80

रामचंद्र शुक्ल

(1884-1941)

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के अगोना ग्राम में 1884 ई. में हुआ। उनकी प्रारंभिक शिक्षा उर्दू, अंग्रेजी और फारसी में हुई। उनकी विधिवत् शिक्षा इंटरमीडिएट तक हुई। कुछ समय तक वे मिर्जापुर के मिशन हाई स्कूल में ड्राइंग-मास्टर हो गए। मिर्जापुर में बदरीनारायण चौधरी ''प्रेमघन'' के संपर्क से शुक्ल जी का हिन्दी की ओर विशेष झुकाव हुआ। 1909-10 ई. में जब नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी की ओर से हिन्दी शब्दकोश बनाने का कार्य आरंभ हुआ तब उन्हें सहायक संपादक के रूप में नियुक्त किया गया। बाद में वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी-अध्यापक के पद पर नियुक्त हुए और श्यामसुंदर दास जी के अवकाश ग्रहण करने पर हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष बने। इसी पद पर कार्य करते हुए 1941 ई. में उनका निधन हो गया।

स्वाध्याय द्वारा उन्होंने संस्कृत, अंग्रेजी, बँगला और हिन्दी के प्राचीन साहित्य का गंभीरता से अध्ययन किया। हिन्दी साहित्य में उनका प्रवेश कवि और साहित्यकार के रूप में हुआ और उन्होंने बँगला तथा अंग्रेजी से कुछ सफल अनुवाद भी किए। आगे चलकर आलोचना उनका मुख्य विषय बन गई। शुक्ल जी के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं: 'तुलसीदास', 'जायसी ग्रंथावली की भूमिका', 'सूरदास', 'चिन्तामणि' (तीन भाग), 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' और 'रस मीमांसा'।

आचार्य शुक्ल उच्चकोटि के निबंधकार और आलोचक थे। भारतीय काव्यशास्त्र के तो वे विद्वान् थे ही,पश्चिम के अलोचना सिद्धांतों का भी उन्होंने यथेष्ट अध्ययन किया था। अपने अध्यवसाय से उन्होंने हिन्दी-आलोचना को नवीन रूप प्रदान किया। हिन्दी साहित्य का प्रथम

प्रामाणिक इतिहास लिखने का श्रेय शुक्ल जी को ही है। आलोचनात्मक निबंधों के अतिरिक्त उन्होंने उत्साह, श्रद्धा, भक्ति, ईर्ष्या, करुणा आदि मनोभावों पर श्रेष्ठ निबंधों की रचना की। उनके सभी निबंध चिन्तामणि नाम से तीन भागों में संकलित हैं।

शुक्ल जी की भाषा-शैली सजीव; प्रौढ़ और भावानुकूल है। संस्कृत की तत्सम शब्दावली के साथ-साथ अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि के शब्दों तथा लोक-प्रचलित मुहावरों के प्रयोग ने विषय के गंभीर प्रतिपादन के साथ ही उनके निबंधों में कहीं-कहीं हास्य और व्यंग्य के छींटे भी मिलते हैं। वस्तुतः उनकी शैली में उनका समग्र व्यक्तित्व प्रतिबिंबित हुआ है।

प्रस्तुत निबंध शुक्ल जी के 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक निबंध का एक अंश है। उनके अनुसार देश-प्रेम अंतःकरण का वह भाव है जो अपने परिवेश में बिखरे हुए प्राकृतिक सौन्दर्य और लोक-जीवन से प्रेरणा लेता है। देश-प्रेम के बाहरी दिखावे की उन्होंने भर्त्सना की है। गंभीर विषय को भी सहज चित्रात्मक शैली में प्रस्तुत करना इस निबंध की अन्यतम विशेषता है।

1. देश-प्रेम

जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता, वह देश-प्रेम का दावा नहीं कर सकता। इस स्वतंत्र सत्ता से अभिप्राय स्वरूप की स्वतंत्र सत्ता है, केवल अन्न-धन संचित करने और अधिकार भोगने की स्वतंत्रता से नहीं। अपने स्वरूप को भूलकर यदि भारतवासियों ने संसार में सुख-समृद्धि प्राप्ति की तो क्या ? क्योंकि उन्होंने उदात्तवृत्तियों को उत्तेजित करने वाली बँधी-बँधाई परंपरा से अपना संबंध तोड़ लिया, नई उभरी हुई इतिहास शून्य जंगली जातियों में अपना नाम लिखाया।

देश-प्रेम है क्या ? प्रेम ही तो है। इस प्रेम का आलंबन क्या है ? सारा देश अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी, नाले, वन, पर्वत सहित सारी भूमि। यह प्रेम किस प्रकार का है ? यह साहचर्यगत प्रेम है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ रहता है। सारांश यह है कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो सकता है। देश-प्रेम यदि वास्तव में यह अंतःकरण का कोई भाव है तो यही हो सकता है। यदि यह नहीं है तो वह कोरी बकवाद या किसी और भाव के संकेत के लिए गढ़ा हुआ शब्द है।

यदि किसी को अपने देश से सचमुच प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर, आदि सबसे प्रेम होगा, वह सबको चाहभरी दृष्टि से देखेगा, वह सबकी सुध करके विदेश में आँसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो यह भी आँख भर नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभपूर्ण

मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि भाइयो ! बिना रूप-परिचय का यह प्रेम कैसा ? जिनके दुःख-सुख के तुम कभी साथी नहीं हुए, उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह कैसे समझें। उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े या खड़े-खड़े तुम विलायती बोली में "अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो।" प्रेम हिसाब-किताब नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं, पर प्रेम करने वाले नहीं।

हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञानमात्र हो सकता है। हितचिंतन और हितसाधन की प्रवृत्ति कोरे ज्ञान से भिन्न है। वह मन के वेग या 'भाव' पर अवलंबित है, उसका संबंध लोभ या प्रेम से है, जिसके बिना अन्य पक्ष में आवश्यक त्याग का उत्साह हो नहीं सकता। जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगाः

नैनन सों 'रसखान' जबै ब्रज के बन, बाग, तड़ाग, निहारौं,
कोटिक वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारों।

रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों पर रीझ-कर या कम से कम न खीझ-कर बिना मन मैला किए कमरे का फ़र्श भी मैला होने देंगे? मोटे आदमियो ! तुम ज़रा-सा दुबले हो जाते – अपने अंदेशे से ही सही – तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता!

पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं, उनसे परच जाते हैं। यह परचना परिचय ही है। परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाइए। बाहर निकलिए तो आँख खोलकर देखिए कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले

झाड़ियों के बीच कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, कछारों में चौपायों के झुंड इधर-उधर चरते हैं चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच गाँव झाँक रहे हैं; उनमें घुसिए, देखिए तो क्या हो रहा है। जो मिले उनसे दो-दो बातें कीजिए, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी-आध-घड़ी बैठ जाइए और समझिए कि ये सब हमारे देश के हैं। इस प्रकार जब देश का रूप आपकी आँखों में समा जाएगा, आप उसके अंग-प्रत्यंग से परिचित हो जाएँगे, तब आपके अंतःकरण में इस इच्छा का सचमुच उदय होगा कि वह कभी न छूटे, वह सदा हरा-भरा और फला-फूला रहे, उसके धनधान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें।

पर आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। वह स्तूप एक बहुत सुंदर छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे छोटा-मोटा जंगल है, जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत-से हैं। संयोग से उन दिनों वहाँ पुरातत्व विभाग का कैम्प पड़ा हुआ था। रात हो जाने से उस दिन हम लोग स्तूप नहीं देख सके, सवेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसंत का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला –"महुओं की कैसी महक आ रही है।" इस पर लखनवी महाशय ने चट मुझे रोककर कहा – "यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।" मैं चुप हो रहा , समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है। पीछे ध्यान आया कि यह वही लखनऊ है जहाँ कभी यह पूछने वाले भी थे कि गेहूँ का पेड़ आम के पेड़ से छोटा है या बड़ा।

प्रश्न-अभ्यास

1. देश–प्रेम का स्वरूप पाठ के आधार पर निरूपित कीजिए।
2. 'नई उभरी हुई इतिहास–शून्य जंगली जातियों में अपना नाम लिखाया।' इस वाक्य में संकेतित तथ्य और व्यंग्य को स्पष्ट कीजिए।

3. 'परिचय प्रेम का प्रवर्तक है।' इस कथन का पल्लवन कीजिए।
4. देश के स्वरूप से परिचित होने के लिए लेखक ने किन-किन बातों पर बल दिया है?
5. लखनवी मित्र के संदर्भ द्वारा लेखक ने किस बात पर व्यंग्य किया है?
6. निम्नलिखित की सप्रसंग व्याख्या कीजिए :
   (क) प्रेम हिसाब-किताब नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर मिल सकते हैं, पर प्रेम करने वाले नहीं।
   (ख) हितचिंतन और हितसाधन की प्रवृत्ति कोरे ज्ञान से भिन्न है।
   (ग) मोटे आदमियो ! तुम ज़रा-सा दुबले हो जाते—अपने अंदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।
7. शुक्ल जी की भाषा-शैली की निम्नलिखित विशेषताओं का एक-एक उदाहरण पाठ से छाँटकर लिखिए :
   (क) तत्सम शब्द-प्रयोग
   (ख) देशज शब्द-प्रयोग
   (ग) सूत्रात्मकता
   (घ) जटिल वाक्य-विन्यास
   (ङ.) व्यंग्यात्मकता।

मोहन राकेश

(1925-72)

मोहन रोकश का जन्म अमृतसर (पंजाब) में हुआ। उनका मूल नाम मदनमोहन गुगलानी था। उन्होंने लाहौर (पाकिस्तान) के ओरियंटल कॉलेज से संस्कृत में एम०ए० किया और देश-विभाजन के पश्चात् जालंधर से हिन्दी में एम०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। कुछ वर्ष तक वे बंबई, शिमला, जालंधर में प्राध्यापक रहे, फिर वे बंबई से प्रकाशित सारिका' पत्रिका के संपादक बने। 1962 ई. में उन्होंने स्वतंत्र लेखन का मार्ग अपनाया। नाटक की भाषा पर शोध करने के लिए उन्हें नेहरू फेलोशिप प्रदान की गई और इसी विषय पर कार्य करते हुए अचानक हृदय-गति रुक जाने से उनका निधन हो गया।

आधुनिक गद्य-साहित्य के विकास में मोहन राकेश का विशेष योगदान रहा। उनके निबंध 'परिवेश' तथा 'बकलम खुद' शीर्षक कृतियों में संकलित हैं। 'आखिरी चट्टान तक' उनके निबंध रूप में लिखित यात्रावृत्तों का संग्रह है। वैसे, उनके मुख्य रचना-क्षेत्र हैं—नाटक, कहानी और उपन्यास। 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे अधूरे' उनके प्रसिद्ध नाटक हैं, जिनमें से प्रथम कृति पर संगीत नाटक अकादमी ने 1959 ई. में उन्हें पुरस्कृत किया। 1971 ई. में साहित्य अकादमी द्वारा नाट्य लेखन पुरस्कार से सम्मानित किए गए। मोहन राकेश के कहानी-संग्रहों में 'इंसान के खंडहर', 'नए बादल', 'जानवर और जानवर', 'एक और जिंदगी' आदि उल्लेखनीय हैं तथा 'अँधेरे बंद कमरे में', 'न आने वाला कल' और 'अंतराल' उनके बहुचर्चित उपन्यास हैं।

भाषा-शैली की दृष्टि से मोहन राकेश ने परंपरा का अनुवर्तन मात्र नहीं किया है। शब्द-विन्यास और वाक्य-संरचना में उन्होंने सहजता, चित्रमयता और नूतन शिल्प-प्रयोगों का बराबर ध्यान रखा है। नाटककार होने के नाते भाषा में सजीवता लाने में उन्हें विशेष सफलता मिली है। अपने निबंधों में विषय की गंभीरता, रोचकता आदि के अनुरूप भाषा को ढालने में वे सिद्धहस्त हैं।

प्रस्तुत पाठ लेखक के यात्रा वृत्तांत– 'आखिरी चट्टान' से लिया गया है। इसमें लेखक ने सूर्य-किरणों के साथ-साथ समुद्र के पानी और आकाश के बदलते हुए सौंदर्य का मनोहारी चित्रण किया है। बाह्य प्राकृतिक रूपरंग के साथ लेखक ने मनोगत भावों का भी चित्रण किया है। चित्रात्मक भाषा-शैली में प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण से पाठ्य वस्तु अत्यंत आकर्षक और सजीव हो उठी है।

2. बदलते रंगों में

सुबह कारवाड़कर मुझे "साबरमती" में चढ़ा गया। दो बजे के लगभग स्टीमर का लंगर उठा और स्टीमर खुले समुद्र की तरफ़ बढ़ने लगा। मैं उस समय एक तरफ़ तख़्ते पर बैठा मुँडेर पर बाँहें टिकाए पानी में बनती लहरों की जालियों को देख रहा था। पानी की सतह पर एक कार्ड तैर रहा था जिससे एक केकड़ा चिपका था। लहरें कार्ड को स्टीमर की तरफ़ धकेल रही थीं, मगर केकड़ा निश्चिन्त भाव से बैठा शायद अपनी नाव के स्टीमर से टकराने की राह देख रहा था। जब कार्ड स्टीमर के बहुत पास आ गया, तो स्टीमर के नीचे से कटते पानी ने उसे फिर परे धकेल दिया। केकड़े ने अपनी दो टाँगें ज़रा-सी उठाकर फिर से कार्ड पर जमा लीं और उसी निश्चिन्त मुद्रा में बैठा गति का आनंद लेता रहा।

जब तक स्टीमर हार्बर में था, तब तक समुद्र का पानी एक हरी आभा लिए था। पर स्टीमर खुले समुद्र में पहुँचने लगा, तो पानी का रंग नीला नज़र आने लगा। पीछे हार्बर में जापानी जहाज़ "चुओ मारो" की चिमनियाँ नज़र आ रही थीं। हमारे एक तरफ़ खुला अरब सागर था और दूसरी तरफ़ भारत का पश्चिमी तट। तट से थोड़ा इधर पानी में दो छोटे-छोटे द्वीप दिखाई दे रहे थे जो दूर से बहुत-कुछ जापानी घरों-जैसे ही लगते थे। इतनी दूर से देखते हुए पश्चिमी तट की रेखा एक बड़े से नक्शे की रेखा लग रही थी। बीच के दोनों द्वीपों से सफ़ेद समुद्र-कपोत उड़कर स्टीमर की तरफ़ आ रहे थे। उनमें से कुछ तो रास्ते में ही पानी की सतह पर उतर जाते थे। और नन्हीं-नन्हीं कागज़ की नावों की तरह वहाँ तैरने लगते थे। दूसरी तरफ़ खुले पानी में सहसा एक तरह की हरियाली घुल गई। मैं उस रंग को फैलते और धीरे-धीरे विलीन होते देखता रहा जैसे कि समुद्र के मन में सहसा एक विचार उठा हो जो अब

धीरे-धीरे उसके अवचेतन में डूबता जा रहा है। मेरे साथ उसी तख्ते पर बैठा एक नवयुवक भी उस हरियाली को घुलते देख रहा था। उसने मेरी तरफ मुड़ कर कहा – 'देखिए, जिंदगी कितना बड़ा चमत्कार है!''

मैं कुछ न कहकर उसकी तरफ देखने लगा।

''आप जानते हैं, यह हरियाली क्या है?'' वह बोला। ''ये प्लैण्टोंज़ हैं – तैरते हुए जीव। इनमें पौधे और मांसयुक्त प्राणी, दोनों तरह के जीवाणु शामिल हैं।''

वह नवयुवक प्राणि-विज्ञान का विद्यार्थी था, और प्राणि-विज्ञान की दृष्टि से ही समुद्र को देख रहा था। विद्यार्थियों की एक पार्टी किसी शोध-प्रोजेक्ट के सिलसिले में गोआ आई थी। वह उस पार्टी का एक सदस्य था। पानी की तरफ संकेत करके वह फिर बोला, ''आप वह रस्सी देख रहे हैं?''

मुझे पहले कोई रस्सी नज़र नहीं आई। पर कुछ देर ध्यान से देखने पर पानी की सतह के नीचे एक लहराती हुई काली लकीर दिखाई दे गई।

''वह रस्सी ही है न ?'' उसने पूछा।

''हाँ, कोई पुरानी गली हुई रस्सी है'' मैंने कहा। वह मुसकराया।'' ''नहीं वह रस्सी नहीं है। वह भी एक जीव-समूह है।''

''जीव समूह?''

''हाँ, जीव-समूह'' वह बोला। ''इन्हें एसीडियन जर्म-परिवार कहते हैं। ये एक तरह की मछलियाँ हैं जो आपस में जुड़ी रहती हैं। ये रबड़ की तरह फैल सकती हैं, और काटने से ही अलग होती हैं। बाद में ये फिर उसी तरह जुड़ने और बड़ी होने लगती हैं।''

मैं ग़ौर से रस्सी को देखने लगा। प्राणि-विज्ञान का विद्यार्थी बोला, ''यह समुद्र एक बहुत बड़ा जादूगर है। इसमें न जाने कितनी तरह के जादू छिपे हैं। रात को चाँद निकलने पर मैं आपको सोने-चाँदी और हीरे–मोतियों की मछलियाँ दिखाऊँगा।''

''सचमुच सोने-चाँदी की?''

वह हँसा और बोला, ''असली सोने-चाँदी की नहीं, केवल फासफोरस से चमकने वाली मछलियाँ।''

और पानी के जीवों के संबंध में और भी कितना कुछ वह मुझे बतलाता रहा। पर मेरा ध्यान थोड़ी देर में उसकी बातों से हटकर डेक की तरफ़ चला गया, क्योंकि वहाँ एक नवयुवक और एक नवयुवती के बीच हारमोनिका बजाने की प्रतियोगिता छिड़ गई थी।

"साबरमती" का वह थर्ड क्लास का डेक किसी बड़े-से तबेले से कम नहीं था। सारे डेक पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक बिस्तर-ही-बिस्तर बिछे थे जो सब एक-दूसरे से सटे हुए थे। कहीं दस व्यक्तियों के परिवार को केवल चार बिस्तर बिछाने की जगह मिली थी और वे उन चार बिस्तरों में ही घिचपिच होकर सोने जा रहे थे। जहाँ मैंने अपना बिस्तर बिछा रखा था, वहाँ असुविधा और ज़्यादा थी क्योंकि स्टीमर का मांल उसी हिस्से से चढ़ाया और उतारा जाता था। मेरे बिस्तर के एक तरफ़ एक लंबे-तगड़े पादरी साहब का बिस्तर था और दूसरी तरफ़ पाँच नमाज़ पढ़ने वाले एक मुसलमान सौदागर का। इस तरह मुझे दो धर्मों के बीच सैण्डविच होकर रात बितानी थी। उस समय ज़्यादातर लोग अपने-अपने बिस्तरों पर ही बैठे थे। मेरी तरह कुछ थोड़े से ही लोग थे जो एक तरफ़ तख़्ते पर बैठे दोनों दुनियाओं का मज़ा ले रहे थे।

हारमोनिका बजाने की प्रतियोगिता थोड़ी देर पहले शुरू हुई थी। नवयुवक एक तरफ़ के बिस्तरों का प्रतिनिधित्व कर रहा था, नवयुवती दूसरी तरफ़ के बिस्तरों का। पहले नवयुवती ने हारमोनिका पर एक फ़िल्मी धुन बजाई थी। उसके समाप्त होते-होते इधर से नवयुवक अपने हारमोनिका पर वही धुन बजाने लगा। उसके बजा चुकने पर इधर से उसे ज़ोर से दाद दी गई। इस पर नवयुवती दूसरी धुन बजाने लगी। इस बार उसे उधर से जो दाद मिली, वह और भी ज़ोरदार थी। इससे यह प्रतियोगिता छिड़ गयी जो हारमोनिका की कम और दाद देने की प्रतियोगिता अधिक थी। जहाज़ के दूसरे हिस्सों से भी लोग आकर वहाँ जमा होने लगे थे। नवयुवक का पक्ष धीरे-धीरे बलवान् होता जा रहा था। अंत में एक धुन बजाने पर उसे बहुत ही ज़ोर-शोर से दाद दी गई, तो उसने खड़े होकर नवयुवती की तरफ़ देखते हुए अपने हैट को छूकर सलाम किया। इस पर उसे और भी ज़ोर से दाद दी गई। नवयुवती ने

उसके बाद और धुन नहीं बजाई।

स्टीमर कुछ देर के लिए कारवाड़ रुककर आगे बढ़ा, तो साँझ हो चुकी थी। पानी का रंग सुरमई हो गया था। दूर एक लाइट-हाउस की बत्ती दो बार जल्दी-जल्दी जलती फिर बुझ जाती। फिर दो बार जलती, फिर बुझ जाती। अँधेरा घिर रहा था। लाइट-हाउस से पीछे का आकाश रुपहला काला नज़र आने लगा था। आकाश के उस हिस्से से आगे लाइट-हाउस की बत्ती का जलना और बुझ जाना ऐसे लग रहा था जैसे कौंधती बिजली को एक मीनार में बंद कर दिया गया हो और वह उस क़ैद से छूटने के लिए छटपटा रही हो – उसी तरह जैसे मलमल के आँचल में पकड़े जुगनू छटपटाते हैं। जिस द्वीप में लाइट-हाउस बना था, वह और उसके आसपास के द्वीप स्याह पड़कर ऐसे लग रहे थे जैसे बाढ़ में डूबे बड़े-बड़े दुर्ग, या पानी के अंदर से उठे जलचरों के देश।

पूर्वी आकाश में रात हो गई थी और तारे झिलमिलाने लगे थे, पर पश्चिम की ओर अरब सागर के क्षितिज में अभी साँझ शेष थी। परंतु साँझ के वे बादल जो कुछ देर पहले सुर्ख और ताँबई थे और जिनके कारण सूर्यास्त सुंदर लग रहा था, अब स्याही में घुलते जा रहे थे। समय साँझ के सौंदर्य से आगे बढ़ आया था – रात के एक नए सौंदर्य को जन्म देने के लिए।

स्टीमर बहुत डोल रहा था। डेक पर एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए कई-कई तरह नृत्य-मुद्राएँ बनाते हुए चलना पड़ता था। पास ही कुछ स्त्री-पुरुषों ने ताल देते हुए एक कोंकणी गीत गाना शुरू कर दिया था। ऐसे ही तरह-तरह के गीत स्टीमर के अलग-अलग हिस्सों में गाए जा रहे थे। मैंने कोशिश की कि कुछ देर सो रहूँ, पर एक तो वे आवाज़ें और दूसरे स्टीमर के डोलने का एहसास – मुझे ज़रा नींद नहीं आई। कुछ देर लेटे रहने के बाद उठकर मैं फिर उसी तख़्ते पर जा बैठा। समुद्र में ज्वार आ रहा था। बड़ी-बड़ी लहरें किसी के उसाँस भरते वक्ष की तरह उठ-गिर रही थीं। जहाज़ के डोलने के साथ समुद्र की सतह के पास पहुँच जाना, फिर ऊपर उठना, और फिर नीचे जाना, बहुत अच्छा लग रहा था। बटकल में सामान उतारने के लिए जहाज तट से पाँच-छह मील इधर रुका और कुछ पाल वाले बेड़े सामान लेने के लिए वहीं आ

गए। उनमें से एक का संतुलन ठीक नहीं था। हर ऊँची उठती लहर के साथ ऊपर उठकर जब वह नीचे आता, तो लगता कि बस अभी उलट जाएगा। सामान भरा जा चुका, तो वह उसी तरह एक तरफ़ को लचकता हुआ किनारे की तरफ बढ़ने लगा। मुझे हर क्षण लग रहा था कि वह अब उलटा कि अब उलटा। पर मल्लाहों को इसकी चिंता नहीं थी। मैं तो उनके खतरे से ख़ासी उत्तेजना महसूस कर रहा था और वे थे कि आराम से चप्पू चलाए जा रहे थे। जब बेड़ा जहाज़ के पीछे से घूमकर दूसरी तरफ पहुँच गया, तो मैं भी उसे देखने के लिए उधर चला गया। पर हुआ कुछ भी नहीं – बेड़ा लहरों पर उठता-गिरता और उसी तरह एक तरफ़ को झुक कर पानी को चूमता हुआ किनारे की तरफ बढ़ता चला गया।

प्राणि-विज्ञान का विद्यार्थी शाम से ही सोने-चाँदी की मछलियाँ मुझे दिखाने के लिए परेशान था। स्टीमर के अलग-अलग हिस्सों में जा कर और अलग-अलग कोण से झाँक कर वह कहीं पर उनकी झलक पा लेने का प्रयत्न कर रहा था। पर अंत तक उसे सफलता नहीं मिली थी। लेकिन स्टीमर बटकल से चला, तो मेरे सामने सहसा चमकीले जीवों से भरी एक नदी सी चली आई। चाँद स्टीमर के इस तरफ़ आ गया था और जहाँ उसकी किरणें सीधे पड़ रही थीं वहाँ असंख्य सुनहरी मछलियाँ काँपती दिखाई दे रही थीं। पर फ़ासफ़ोरस से चमकने वाली मछलियाँ वे नहीं थीं – लहरों पर चाँदनी के स्पर्श से बनती मछलियाँ थीं। आगे जहाँ स्टीमर की नोंक लहरों को काट रही थी, वहाँ फेन की एक नदी बन रही थी जो हलके आवर्तों में बदलकर पानी के मरुस्थल में विलीन होती जा रही थी।

रात के दो बज चुके थे। मैं उसी तरह तख़्ते पर बैठा था। ज़्यादातर लोग सो चुके थे। कुछ लड़के सोने वालों के पास जा-जाकर ऊधम मचाते हुए नाविकों के गीत गा रहे थे।

मैं भी उठा और जाकर बिस्तर पर लेट गया। लड़कों के शोर के बावजूद वातावरण में एक निस्तब्धता प्रतीत हो रही थी। स्टीमर के इंजन का शोर भी जैसे शोर नहीं था। समुद्र का गर्जन भी उस निस्तब्धता का ही एक भाग था। सब-कुछ खामोश था। स्वयं रात भी

जैसे सो रही थी। पर मेरी आँखों में नींद नहीं थी। मैं खुली आँखों से सिर पर झूलते आकाश की ओर देख रहा था और सोच रहा था कि ऐसे में अपलक ऊपर को देखते जाना भी क्या एक तरह की नींद नहीं है?

प्रश्न-अभ्यास

1. पाठ के आधार पर समुद्र के पानी और आकाश के बदलते हुए रूप-सौंदर्य का वर्णन कीजिए।
2. समुद्र में फैलती-विलीन होती हुई हरीतिमा तथा मन में उठने-डूबने वाले विचारों में लेखक ने क्या साम्य दिखाया है।
3. प्राणिविज्ञान के विद्यार्थी ने समुद्र के किन चमत्कारों की ओर लेखक का ध्यान आकृष्ट किया ?
4. कार्ड पर बैठे केकड़े का प्रसंग किस प्रेरणा की ओर संकेत करता है ?
5. 'यह समुद्र एक बहुत बड़ा जादूगर है।' यह वाक्य किसने, कब और क्यों कहा?
6. रात में नींद न आने पर लेखक की जगह डेक के तख़्ते पर स्वयं को विद्यमान मानकर अपने चारों ओर का वर्णन अपनी भाषा में कीजिए।
7. इस पाठ के आधार पर मोहन राकेश की चित्रात्मक भाषा-शैली के चार उदाहरण छाँटिए।
8. चित्रात्मक शैली में विशेषणों का क्या योगदान है ? सोदाहरण बताइए।
9. आशय स्पष्ट कीजिए:
   (क) मेरी तरह कुछ थोड़े से ही लोग थे जो एक तरफ तख़्ते पर बैठे दोनों दुनियाओं का मज़ा ले रहे थे।
   (ख) समय साँझ के सौंदर्य से आगे बढ़ आया था – रात के एक नए सौंदर्य को जन्म देने के लिए।
   (ग) मेरे सामने सहसा चमकीली जीवों से भरी एक नदी-सी चली आई।
   (घ) ऐसे में अपलक ऊपर को देखते जाना भी क्या एक तरह की नींद नहीं है?

महादेवी वर्मा

(1907-87)

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म फर्रुखाबाद (उ.प्र.) में होली के दिन हुआ। उनकी प्रारंभिक शिक्षा मिशन स्कूल इंदौर में हुई। वे केवल नौ वर्ष की थीं कि उनका विवाह हो गया, पर विवाह के बाद भी उनका अध्ययन चलता रहा। 1929 ई. में उन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर भिक्षुणी बनना चाहा, किंतु वैसा न करके महात्मा गांधी के संपर्क में आने पर वे समाज-सेवा की ओर उन्मुख हो गईं। 1932 ई. में उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की और नारी-समाज में शिक्षा-प्रसार के उद्देश्य से प्रयाग महिला विद्यापीठ की स्थापना करके उसकी प्रधानाचार्या के रूप में कार्य करने लगीं। मासिक पत्रिका 'चाँद' का भी उन्होंने कुछ समय तक निःशुल्क संपादन किया।

महादेवी जी का कर्मक्षेत्र बहुमुखी रहा है। उन्हें 1952 ई. में उत्तर प्रदेश की विधान परिषद् का सदस्य मनोनीत किया गया, 1954 ई. में वे साहित्य अकादमी की संस्थापक सदस्या बनीं। 1960 ई. में उन्हें प्रयाग महिला विद्यापीठ का कुलपति बनाया गया। उनके व्यापक शैक्षिक साहित्यिक और सामाजिक कार्यों के लिए भारत सरकार ने 1956 ई. में उन्हें पद्मभूषण से सम्मानित किया। विक्रम, कुमायूँ तथा दिल्ली विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० लिट्० की मानद उपाधि से विभूषित किया। 1983 ई. में 'यामा' पर उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने भी उन्हें 'भारत भारती' पुरस्कार से सम्मानित किया । साहित्य, दर्शन, संगीत, चित्रकला, प्रकृति एवं

पशु-पक्षियों में महादेवी जी की गहरी रुचि रही है। उनकी रचनाओं में यह रुचि वैचित्र्य सर्वत्र लक्षित किया जा सकता है। उनके निबंध 'शृंखला की कड़ियाँ', 'क्षणदा', 'संकल्पिता' तथा 'भारतीय संस्कृति के स्वर' में संकलित हैं। 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', 'पथ के साथी' और 'मेरा परिवार' उनके संस्मरणात्मक रेखाचित्रों के संकलन हैं। कविता और गद्य पर उनका समान रूप से अधिकार है।

महादेवी जी की गद्य-शैली सहज और प्रवाहपूर्ण है। तत्सम शब्दों की प्रधानता होने पर भी उनकी भाषा में दुरूहता नहीं है। उनकी शैली के दो स्पष्ट रूप दृष्टिगत होते हैं: विचारात्मक एवं भावात्मक। सटीक वर्णन, प्रभावशाली बिंब-योजना और चित्रात्मकता उनकी शैली की विशेषताएँ हैं।

प्रस्तुत निबंध महादेवी जी के 'मेरे प्रिय निबंध संग्रह' से उद्धृत है। इस पाठ में लेखिका ने जीने की कला का गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने जीने की कला में सिद्धांत और उसके क्रियात्मक प्रयोग अथवा व्यवहार पक्ष के समन्वय पर बल दिया है। इन दोनों पक्षों (तद्-विषयक विज्ञान और उसका क्रियात्मक प्रयोग) में से किसी भी एक पक्ष की अवहेलना से जीने की कला अधूरी और अपूर्ण कहलाएगी। इसी प्रसंग में भारतीय नारी की सहन शक्ति, अप्रतिम त्याग और अलौकिक साहस का उल्लेख करते हुए उसके दुःसह और कारुणिक जीवन का बहुत ही संवेदनात्मक और मर्मस्पर्शी चित्र भी खींचा गया है।

3. जीने की कला

प्रत्येक कार्य के प्रतिपादन तथा प्रत्येक वस्तु के निर्माण में दो आवश्यक अंग हैं – तद्विषयक विज्ञान और उस विज्ञान का क्रियात्मक प्रयोग। बिना एक के दूसरा अंग अपूर्ण ही रहेगा, क्योंकि बिना प्रयोग के ज्ञान प्रमाणहीन है और बिना ज्ञान के प्रयोग आधारहीन – अतः प्रत्येक विज्ञान में क्रियात्मक कला का कुछ अंश अवश्य रहता है और प्रत्येक क्रियात्मक कला भी अपने विज्ञान विशेष की अनुगामिनी बनकर ही सफल होती है। ये दोनों इतने सापेक्ष हैं कि एक को जानने में दूसरे को जानना ही पड़ता है।

यदि हम रंग और उनके मिश्रण के विषय में जान लें, तूलिका आदि के विषय में सब कुछ समझ लें, परंतु कभी इस ज्ञान को प्रयोग की कसौटी पर न कसें तो हमारा चित्रकला-विषयक ज्ञान परीक्षण के बिना अपूर्ण ही रह जाएगा। इसी प्रकार यदि हम इस ज्ञान के बिना ही एकाएक रंग भरने का प्रयत्न करने लगें तो हमारा यह प्रयास भी असफल ही कहा जाएगा। चित्रकला की पूर्णता के लिए और सफल चित्रकार बनने के लिए हमें तत्संबंधी ज्ञातव्य को जानकर प्रयोग में लाना ही होगा। यही अन्य कलाओं के लिए भी सत्य सिद्ध होगा।

यदि हम ध्यान से देखें तो संसार में जीना एक ऐसी कला जान पड़ेगा जिसमें उपयुक्त दोनों साधनों का होना अनिवार्य है। सामूहिक तथा व्यक्तिगत विकास के लिए कुछ सिद्धांतों का ज्ञान जितना आवश्यक है, उतना ही या उससे भी कुछ अधिक आवश्यक उन सिद्धांतों का उचित अवसर पर उपयुक्त प्रयोग भी समझा जाना चाहिए। यदि हम ऐसे सिद्धांतों का भार जन्म-भर ढोते रहें जिनका उपयुक्त प्रयोग हमें ज्ञात न हो, तो हमारी दशा उस पशु से भिन्न न होगी जिसको बिना जाने ही

शस्त्रों और धर्मग्रंथों का भार वहन करना पड़ता हो। इस प्रकार यदि हम बिना सिद्धांत समझे उनका अनुपयुक्त प्रयोग करते रहें, तो हमारी क्रिया बिना अर्थ समझे मंत्रपाठी शुक की वाणी के समान निरर्थक हो उठेगी।

हमारे संस्कारों में, जीवन के लिए आवश्यक सिद्धांत ऐसे सूत्र रूप में समा जाते हैं, जो प्रयोग रूपी टीका के बिना न स्पष्ट हो पाते हैं और न उपयोगी। ''सत्यं ब्रूयात्'' को हम सिद्धांत रूप में जानकर भी न अपना विकास कर सकते हैं और न समाज का उपकार, जब तक अनेक परिस्थितियों, विभिन्न स्थानों और विशेष कालों में उसका प्रयोग कर उसके वास्तविक अर्थ को न समझ लें, उसके यथार्थ रूप को हृदयंगम न कर लें।

एक निर्दोष के प्राण बचाने वाला असत्य उसकी हिंसा का कारण बनने वाले सत्य से श्रेष्ठ ही रहेगा, एक क्रूर स्वामी की अन्यायपूर्ण आज्ञा को पालन करने वाले सेवक से उसका विरोध करने वाला अधिक स्वामिभक्त कहलाएगा और एक दुर्बल पर अन्याय करने वाले अत्याचारी को क्षमा कर देने वाले क्रोध जिससे उसे दंड देने वाला क्रोधी संसार का अधिक उपकार कर सकेगा। अन्य सिद्धांतों के लिए भी यही सत्य है और रहेगा।

सिद्धांतों की जितनी भारी गठरी लेकर हम अपने कर्मक्षेत्र के द्वार तक पहुँचते हैं, उतना भारी बोझ लेकर कदाचित् ही किसी अन्य देश के व्यक्ति को पहुँचना पड़ता है, परंतु फिर भी कार्यक्षेत्र में हमीं सबसे अधिक निष्क्रिय प्रमाणित होंगे|कारण, हम अपने सिद्धांतों को उपयोग से बचा-बचाकर उसी प्रकार रखने में उद्देश्य की सिद्धि समझ लेते हैं, जिस प्रकार धन को व्यय से बचाकर रखने वाले कृपण उसके संचय में ही अपने उद्योग की चरम सफलता देख लेते हैं।

परिस्थिति, काल और स्थान के अनुसार उनके प्रयोग तथा रूपों के विषय में जानने का न हमें अवकाश है न इच्छा। फल यह हुआ कि हमारा जीवन अपूर्ण वस्तुओं में सबसे अधिक अपूर्ण होने का दुर्भाग्य मात्र प्राप्त कर सका।

आज तो जीने की कला न जानने का अभिशाप देश-व्यापक है, परंतु विशेष रूप से स्त्रियों ने इस अभिशाप के कारण जो कुछ सहा है

उसे सह कर जीवित रहने का अभिमान करने वाले विरले ही मिलेंगे यह सत्य है कि हमारे देश में व्यक्ति को इतना महत्त्व दिया गया था कि कहीं-कहीं हमें उसके विकास के साधन भी एक विचित्र बंधन-जैसे लगने लगते हैं। परंतु यह कहना अन्याय होगा कि उन प्राचीन युग के निवासियों ने व्यक्तिगत विकास को दृष्टिबिंदु बनाकर सामूहिक या सामाजिक विकास को एक क्षण के लिए भी दृष्टि से ओझल होने दिया। उनका जीवन विषयक ज्ञान कितना-वैयक्तिक किंतु व्यापक, स्थिर किंतु प्रत्येक परिस्थिति के अनुकूल और एक किंतु सामूहिक था, इसका प्रमाण हमें उन सिद्धांतों में मिल जाता है जिनके आकर्षण से हम अपनी अज्ञानावस्था में भी नहीं छूट पाते और इस ज्ञान का उन्होंने कैसा उपयुक्त तथा प्रगतिशील प्रयोग किया, यह समाज के निर्माण और व्यक्ति के जीवन के पूर्ण विकास को दृष्टि में रखकर खोजे गए साधनों से स्पष्ट हो जाता है। यदि हम शताब्दियों से केवल सिद्धांतों का निर्जीव भार लिए हुए शिथिल हो रहे हैं तो इसमें हमारा और हमारी परिस्थितियों का दोष है। यदि हम अपने जीवन को सजीव और सक्रिय बनाना चाहते, अपनी विशेष परिस्थितियों में उनका प्रयोग कर उनकी सामयिक अनुकूलता-प्रतिकूलता, उपयुक्तता-अनुपयुक्तता का निश्चय कर लेते और जीवन के ज्ञान और उसके क्रियात्मक प्रवाह को साथ बहने देते तो अवश्य ही हमारा जीवन उत्कृष्ट कला का निदर्शन होता।

हमने जीवन को उचित कार्य से विरत कर उसी के व्यवस्थापक नियमों को अपने पैर की बेड़ियाँ बनाकर उन्हें भी भारी बना डाला, अतः आज यदि लक्ष्य तक पहुँचने की इच्छा भी भूल गए तो आश्चर्य ही क्यों होना चाहिए।

इस समय भारतीय नारी के पास ऐसा कौन-सा विशिष्ट गुण नहीं है, जिसे पाकर किसी भी देश की मानवी देवी न बन सकती हो। उसमें उस सहनशक्ति की सीमा समाप्त हैं जिसके द्वारा मनुष्य घोर से घोरतर अग्निपरीक्षा हँसते-हँसते पार कर सकता है और अपने लक्ष्य के मार्ग में बाधाओं पर बाधाएँ देखकर नहीं सिहरता, उसमें वह त्याग है, जो मनुष्य की क्षुद्र-से-क्षुद्र स्वार्थवृत्ति को क्षण में नष्ट कर डालता है और उसे अन्य के कल्याणार्थ अपनी आहुति के लिए प्रस्तुत कर देता है, उसमें मनुष्य

को देवता की पंक्ति में बैठा देने वाली वह पवित्रता है, जो मरना नहीं जानती तथा उसमें हमारी संस्कृति का वह कोष है जिसकी किसी अन्य के द्वारा रक्षा संभव ही नहीं थी। वह आज भी त्यागमयी माता, पतिव्रता पत्नी, स्नेहमयी बहन और आज्ञाकारिणी पुत्री है, जब संसार के जाग्रत देशों की स्त्रियाँ भौतिक सुखभोग पर अपनी युगजीर्ण संस्कृति न्योछावर किए दे रही हैं। इन्हें त्याग के, बलिदान के और स्नेह के नाम पर सब कुछ आता है, परंतु जीने की वह कला नहीं आती जो इन अलौकिक गुणों को सजीव कर देती।

जीर्ण-से-जीर्ण कुटीर में बसने वालों में भी कदाचित ही कोई ऐसा अभागा निर्धन होगा, जिसके उजड़े आँगन में एक भी सहनशील, त्यागमयी, ममतामयी स्त्री न हो।

स्त्री किस प्रकार अपने हृदय को चूर-चूरकर पत्थर की देव-प्रतिमा बन सकती है, यह देखना हो तो हिन्दू गृहस्थ की दुधमुँही बालिका से शापमयी युवती में परिवर्तित होती हुई विधवा को देखना चाहिए जो किसी अज्ञात व्यक्ति के लिए अपने हृदय की, हृदय के समान ही प्रिय इच्छाएँ कुचल-कुचलकर निर्मूल कर देती है, सतीत्व और संयम के नाम पर अपने शरीर और मन को अमानुषिक यंत्रणाओं के सहने का अभ्यस्त बना लेती है और इस पर भी दूसरों के अमंगल के भय से आँखों में दो बूँद जल भी इच्छानुसार नहीं आने दे सकती।

अर्धांगिनी की विडंबना का भार लिए, सीता-सावित्री के अलौकिक तथा पवित्र आदर्श का भार, अपने भेदे हुए जीर्ण-शीर्ण स्त्रीत्व पर किसी प्रकार सँभालकर क्रीतदासी के समान अपने मद्यप, दुराचारी तथा पशु से भी निकृष्ट स्वामी की परिचर्या में लगी हुई और उसके दुर्व्यवहार को सह कर भी देवताओं से जन्म-जन्मांतर में उसी का संग पाने का वरदान माँगने वाली पत्नी को देखकर कौन आश्चर्याभिभूत न हो उठेगा ? पिता के इंगित मात्र से अपने जीवन-प्रभात में देखे रंगीन स्वप्नों को विस्मृति से ढँककर बिना एक दीर्घ निश्वास लिए अयोग्य-से-अयोग्य पुरुष का अनुगमन करने को प्रस्तुत पुत्री को देखकर किसका हृदय न भर आवेगा? पिता की अट्टालिका और वैभव से वंचित दरिद्र भगिनी को ऐश्वर्य का उपभोग करने वाले भाई की कलाई पर सरल भाव से रक्षाबंधन बाँधते

देख कौन विश्वास कर सकेगा कि ईर्ष्या भी मनुष्य का स्वाभाविक विकार है और अनेक साहसहीन निर्जीव से पुत्रों द्वारा उपेक्षा और अनादर से आहत हृदय ले, उनके सुख के प्रयत्न में लगी हुई माता को देख कौन ''क्वचित् कुमाता न भवति'' कहने वाले को स्त्री-स्वभाव के गंभीर रहस्य का अन्वेषक न मान लेगा? परंतु इतनी अधिक सहनशक्ति ऐसा अप्रतिम त्याग और ऐसा अलौकिक साहस देखकर भी देखने वाले के हृदय में यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता कि क्या ये विभूतियाँ जीवित हैं?

जीवन को पूर्ण-से-पूर्ण रूप तक विकसित कर देने योग्य सिद्धांत उसके पास हैं, परंतु न उनका परिस्थिति-विशेष में उचित उपयोग ही वह जानती है और न उनका अर्थ ही समझती है, अतः जीवन और सिद्धांत दोनों ही भार होकर उसे वैसे ही संज्ञाहीन किए दे रहे हैं, जैसे ग्रीष्म की कड़ी धूप में शीतकाल के भारी और गर्म वस्त्र पहने हुए पथिक को उसका परिधान। जीवन को अपने साँचे में ढालकर सुंदर और सुडौल बनाने वाले सिद्धांतों ने ही अपने विपरीत उपयोग से भार बनकर उसके सुकुमार जीवन को उसी प्रकार कुरूप और वामन बना डाला है जिस प्रकार हाथ का सुंदर कंकण चरण में पहने जाने पर उसकी वृद्धि को रोक कर उसे कुरूप बना देता है।

हिन्दू समाज ने उसे अपनी प्राचीन-गौरव-गाथा का प्रदर्शन-मात्र बनाकर रख छोड़ा है और वह भी मूक निरीह भाव से उसको वहन करती जा रही है। शताब्दियाँ पर शताब्दियाँ बीती चली जा रही हैं, समय की लहरों में परिवर्तन पर परिवर्तन बहते जा रहे हैं, परिस्थितियाँ बदल रही हैं, परंतु समाज केवल स्त्री को, जिसे उसने दासता के अतिरिक्त और कुछ देना नहीं सीखा, प्रलय की उथल-पुथल में भी शिला के समान स्थिर देखना चाहता है। ऐसी स्थिरता मृत्यु का शृंगार हो सकती है, जीवन का नहीं। अवश्य ही मृत्यु में भी एक सौंदर्य है, परंतु वह जीवन के रिक्त स्थान को तो नहीं भर सकता।

धन की प्रभुता या पूँजीवाद जितना गर्हित है उतना ही गर्हित रूप धर्म और अधिकार का हो सकता है, फिर उसके विषय में तो कहना ही व्यर्थ है जिसे धन, धर्म और अधिकार तीनों प्रकार की प्रभुता प्राप्त हो चुकी है।

समाज में उपार्जन का उत्तरदायित्व मिल जाने से पुरुष को एक प्रकार का पूँजीपतित्व तो प्राप्त हो ही गया था, शक्ति अधिक होने के कारण अधिकार मिलना भी सहज-प्राप्य हो गया। इसके अतिरिक्त शास्त्र तथा अन्य सामाजिक नियमों का निर्माता होने के कारण वह अपने आपको अधिक-से-अधिक स्वच्छंद और स्त्री को कठिन-से-कठिन बंधन में रखने में समर्थ हो सका।

इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी परिस्थिति का कुछ उत्तरदायित्व स्त्री पर भी है, क्योंकि उसे जीने की कला नहीं आती, केवल युगयुगांतर से चले जाने वाले सिद्धांतों का भार लेकर वह स्वयं ही अपने लिए भार हो उठी है।

मनुष्यता के ऊपर की स्थिति को अपना लक्ष्य बनाने से प्रायः मनुष्य देवता की पाषाण-प्रतिमा बनकर रह जाता है और इसके विपरीत मनुष्य से नीचे उतरना पशु की श्रेणी में आ जाना है। एक स्थिति मनुष्य से ऊपर होने पर भी निष्क्रिय है, दूसरी इससे नीची होने के कारण मनुष्यता का कलंक है। अतः दोनों ही स्थितियों में मनुष्य का पूर्ण विकास संभव नहीं है। हमारे समाज में अपने स्वार्थ के कारण पुरुष मनुष्यता का कलंक है और स्त्री अपनी अज्ञानमय निस्पंद सहिष्णुता के कारण पाषाण-सी उपेक्षणीय – दोनों के मनुष्यत्व युक्त मनुष्य हो जाने से ही जीवन की कला विकास पा सकेगी जिसका ध्येय मनुष्य की सहानुभूति, सक्रियता, स्नेह आदि गुणों को अधिक-से-अधिक व्यापक बना देना है।

जीवन को विकृत न बनाकर उसे सुंदर और उपयोगी रूप देने के इच्छुक को अपने सिद्धांतों से संबंध रखने वाली अंतर्मुखी तथा उन सिद्धांतों के सक्रिय रूप से संबंध रखने वाली बहिर्मुखी शक्तियों को पूर्ण विकास की सुविधाएँ देनी ही पड़ेंगी। वही वृक्ष पृथ्वी तल पर बिना अवलंब के अकेला खड़ा रहकर झंझा के प्रहारों को मलय समीर के झोंकों के समान सहकर भी हरा-भरा फल-फूल से युक्त रह सकेगा, जिसकी मूल-स्थिति दृढ़ रह सकती है ज़ो धरातल से बाहर स्वच्छंद वातावरण में साँस लेता है। जब बहिर्मुखी शक्तियाँ भी अंतर्मुखी हो जाती हैं तब बाह्य सक्रियता नष्ट हुए बिना नही रहती। आज चाहे हमारी आध्यात्मिकता भीतर-ही-भीतर पाताल तक फैल गई हो, परंतु जीवन

का व्यावहारिक रूप विकृत-सा होता जा रहा है। जीवन का चिह्न केवल काल्पनिक स्वर्ग में विचरण नहीं है किंतु संसार के कंटकाकीर्ण पथ को प्रशस्त बनाना भी है। जब तक बाह्य तथा आंतरिक विकास सापेक्ष नहीं बनते, हम जीना नहीं जान सकते।

प्रश्न-अभ्यास

1. लेखिका की दृष्टि से भारतीय नारी-जीवन की विडंबना क्या है?
2. जीने की कला का उत्कर्ष किस स्थिति में दिखलाई पड़ता है :
   (क) व्यक्तिगत विकास के स्थान पर सामाजिक विकास पर बल देने में।
   (ख) जीवन के ज्ञान और उसके क्रियात्मक प्रवाह के संयोग में।
   (ग) सिद्धांतों के प्रति एक आग्रह रखने में।
   (घ) अवसरानुकूल आचरण करने में।
3. किन स्थितियों में असत्य भी सत्य से अधिक श्रेयस्कर सिद्ध हो सकता है ?
4. 'प्राचीन भारतीयों ने व्यक्तिगत विकास को महत्त्व देकर भी सामाजिक विकास को दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया।' लेखिका के इस कथन की विवेचना कीजिए।
5. अन्य देशों के लोगों की अपेक्षा भारतीय क्यों निष्क्रिय प्रमाणित होते हैं?
6. पाठ के आधार पर भारतीय नारी की सहन-शक्ति, अप्रतिम त्याग और अलौकिक साहस का एक-एक उदाहरण दीजिए।
7. 'हमारे समाज में अपने स्वार्थ के कारण पुरुष मनुष्यता का कलंक है और स्त्री अपने अज्ञानमय निस्पंद सहिष्णुता के कारण पाषाण-सी उपेक्षणीय', उक्त कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।
8. निम्नलिखित पंक्तियों की व्याख्या कीजिए:
   (क) उसमें उस सहन-शक्ति की सीमा समाप्त है, जिसके द्वारा मनुष्य घोर से घोरतर अग्नि-परीक्षा हँसते-हँसते पार कर सकता है।
   (ख) उसमें मनुष्य को देवता की पंक्ति में बैठा देने वाली वह पवित्रता है जो मरना नहीं जानती।
   (ग) ऐसी स्थिरता मृत्यु का सौन्दर्य हो सकती है, जीवन का नहीं।

(घ) जब बहिर्मुखी शक्तियाँ भी अंतर्मुखी हो जाती हैं, तब बाह्य सक्रियता नष्ट हुए बिना नहीं रहती।

9. निम्नांकित वाक्य का पल्लवन कीजिएः
अवश्य ही मृत्यु में भी एक सौंदर्य है परंतु वह जीवन के रिक्त स्थान को तो नहीं भर सकती।

10. "भारतीय नारी की दुर्दशा के लिए यहाँ का पुरुष-वर्ग उत्तरदायी है।" इस विषय पर अपनी कक्षा में एक वाद-विवाद प्रतियोगिता का आयोजन कीजिए।

11. महोदवी वर्मा की भाषा-शैली की निम्नलिखित विशेषताओं के उदाहरण पाठ से छाँटकर लिखिएः

(क) भावुकता (ख) तार्किकता
(ग) काव्यात्मकता (घ) तत्सम शब्दावली का प्रयोग

हजारीप्रसाद द्विवेदी

(1907-79)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में आरत दुबे का छपरा, ओझवलिया में 1907 ई. में हुआ। संस्कृत महाविद्यालय काशी से शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने ज्योतिष विषय में 1930 ई. में ज्योतिषाचार्य की उपाधि प्राप्त की। उसी वर्ष उनकी नियुक्ति शांति निकेतन में हिन्दी शिक्षक के रूप में हुई। 1950 ई. में वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष बने। इस पद पर दस वर्ष तक कार्य करने के पश्चात् 1960 ई. में उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद का कार्यभार सँभाला। वहाँ से अवकाश ग्रहण करने पर वे भारत सरकार की हिन्दी विषयक अनेक योजनाओं से संबद्ध रहे। लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें डी. लिट्. की उपाधि से और भारत सरकार ने पद्मभूषण अलंकार से सम्मानित किया। उनका निधन 19 मई, 1979 को दिल्ली में हुआ।

द्विवेदी जी का अध्ययन-क्षेत्र बहुत व्यापक था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बँगला आदि भाषाओं एवं इतिहास, दर्शन, संस्कृति, धर्म आदि विषयों में उनकी विशेष गति थी। इसीलिए उनकी रचनाओं में विषय-प्रतिपादन और शब्द-प्रयोग की विविधता मिलती है।

हिन्दी-निबंधकारों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पश्चात् द्विवेदी जी का प्रमुख स्थान है। वे उच्च कोटि के निबंधकार, आलोचक और उपन्यासकार थे। उनके निंबध 'अशोक के फूल', 'विचार और वितर्क', 'कल्पलता', 'कुटज' 'आलोक पर्व' आदि में संकलित हैं। 'सूर-साहित्य', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कालिदास की लालित्य-योजना'

आदि उनकी प्रसिद्ध आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। 'चारुचंद्रलेख', 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा' उनके उपन्यास हैं। उनकी सभी रचनाएँ हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली के ग्यारह भागों में संकलित हैं।

द्विवेदी जी की भाषा सरल होते हुए भी प्रांजल है। वह प्रवाहयुक्त भी है और भाव-व्यंजक भी। व्यंग्य शैली के प्रयोग द्वारा उन्होंने अपने निबंधों पर पांडित्य के बोझ को हावी नहीं होने दिया है। स्थान-स्थान पर संस्कृत साहित्य से उद्धरण देकर वे अपनी बात को पुष्ट करते चलते हैं, यह द्विवेदी जी की निजी विशेषता है। भाषा की दृष्टि से उन्होंने हिन्दी की गद्य-शैली को जो रूप दिया, वह हिन्दी साहित्य के लिए वरदान-रूप है।

प्रस्तुत निबंध में द्विवेदी जी ने भीष्म के जीवन चरित्र से संबद्ध कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्‌घाटित किए हैं। भीष्म की धर्मज्ञता और इतिहास-बोध ने उन्हें प्राचीन काल के ज्ञानियों से कहीं अधिक प्रभावित किया है। प्रस्तुत निबंध को पढ़कर पाठक भीष्म के संबंध में 'कुछ और' सोचने को बाध्य हो जाता है। संपूर्ण निबंध में उनके अनूठे व्यक्तित्व की छाप झलकती है। द्विवेदी जी की गहन प्रतिभा, भाषा-शिल्प और भावप्रवणता इस रचना में देखते ही बनती है।

4. भीष्म को क्षमा नहीं किया गया !

मेरे एक मित्र हैं, बड़े विद्वान्, स्पष्टवादी और नीतिमान। वह इस राज्य के बहुत प्रतिष्ठित नागरिक हैं। उनसे मिलने से सदा नई स्फूर्ति मिलती है। यद्यपि वह अवस्था में मुझसे छोटे हैं, तथापि मुझे सदा सम्मान देते हैं। इस देश में यह एक अच्छी बात है कि सब प्रकार से हीन होकर भी यदि कोई उम्र में बड़ा हो, तो थोड़ा-सा आदर पा ही जाता है। मैं भी पा जाता हूँ। मेरे इस मित्र की शिकायत थी कि देश की दुर्दशा देखते हुए भी मैं कुछ कह नहीं रहा हूँ, अर्थात् इस दुर्दशा के लिए जो लोग जिम्मेदार हैं उनकी भर्त्सना नहीं कर रहा हूँ। यह एक भयंकर अपराध है। कौरवों की सभा में भीष्म ने द्रौपदी का भयंकर अपमान देखकर भी जिस प्रकार मौन धारण किया था, वैसे ही कुछ मैं और मेरे जैसे कुछ अन्य साहित्यकार चुप्पी साधे हैं। भविष्य इसे उसी तरह क्षमा नहीं करेगा जिस प्रकार भीष्म पितामह को क्षमा नहीं किया गया। मैं थोड़ी देर तक अभिभूत होकर सुनता रहा और मन में पापबोध का भी अहसास हुआ। सोचता रहा, कुछ करना चाहिए, नहीं तो भविष्य क्षमा नहीं करेगा। वर्तमान ही कौन क्षमा कर रहा है ? काफी देर तक मैं परेशान रहा – चुप रहना ठीक नहीं है, कंबख़्त भविष्य कभी माफ़ नहीं करेगा, उसकी सीमा भी तो कोई है। पाँच हजार वर्ष बीत गए और अब तक बिचारे भीष्म पितामह को क्षमा नहीं किया गया। भविष्य विकट असहिष्णु है।

काफ़ी देर बाद भ्रम दूर हुआ। मैं भीष्म नहीं हूँ। अगर हिन्दी में लिखने वाला कोई भीष्म हो जाता हो, तो भी मुझे कौन पूछता है? बहुत ज्ञानी-गुणी भरे पड़े हैं। मुझसे अवस्था में, ज्ञान में, प्रतिभा में बहुत आगे। मुझे कोई डर नहीं है। ''भविष्य'' नामक महादुरंत अज्ञात मुझे किसी गिनती में लेने वाला नहीं है। डरना हो तो वे ही लोग डरें, जिनकी

गिनती हो सकती है। तुम क्यों घबराते हो, मनसाराम, तुम तो न तीन में, न तेरह में! बड़ी राहत मिली इस यथार्थबोध से।

मगर यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि थोड़ी देर के लिए ही सही, भीष्म मुझ पर छाए रहे। प्राचीन काल में भीष्म जैसा धर्मज्ञ और ज्ञानी खोजना कठिन है। महाभारत का शांतिपर्व इसका गवाह है। कोई समस्या तो भले आदमी ने छोड़ी नहीं। प्राचीन काल के ज्ञानियों में भीष्म मुझे सबसे अधिक प्रभावित करते हैं, अपने अगाध इतिहासबोध के कारण । युधिष्ठिर के हर प्रश्न के उत्तर में वह प्रायः यह कहकर शुरू करते हैं "अत्राप्युदाहरन्तीमितिहासं पुरातनम्" (यहाँ भी लोग इस पुराने इतिहास की नज़ीर देते हैं)।

किस प्रकार पुराने इतिहास से वह वर्तमान समस्या के सही स्वरूप का उद्घाटन करते हैं और उसका विकासक्रम समझा देते हैं, वह चकित कर देता है। हर प्रश्न की तह में जाने की उनकी पद्धति आधुनिक युग में भी उपयोगी है। ज्ञान और धर्म के सच्चे रूप को पहचानने में उन्हें कमाल की सफलता मिली थी। यह कहना ग़लत होगा कि भीष्म के प्रति भारतवर्ष ने कृतज्ञता नहीं दिखाई। आज भी श्रद्धावान लोग भीष्माष्टमी को अपनी श्रद्धा उनके प्रति निवेदन करते ही हैं, परंतु जिस समय मेरे मित्र अत्यंत प्रभावशाली शैली में भीष्म को मेरे ऊपर आरोपित कर रहे थे, उस समय थोड़ी देर के लिए भीष्म का आवेश सचमुच मेरे ऊपर आ गया था। प्रभावशाली भाषा में जादुई शक्ति होती है। उसी से कवि पाठक को अभिभूत करता है, वक्ता उसी के बल पर श्रोता पर छा जाता है। मैं भी कुछ आविष्ट हुआ। भीष्म की ही शैली में बोलने की प्रेरणा जाग्रत हुई थी . . . "अत्राप्युदाहरन्तीमितिहासं पुरातनम्।"

एक पुराना इतिहास मुझे भी स्मरण हो आया था।

वह इतिहास यह है। बात सन् 35-36 की है। उन दिनों मैं शांति निकेतन में था। एक दिन प्रातः भ्रमण के लिए निकला था। मैं साधारणतः प्रातः भ्रमण के लिए तभी निकलता हूँ, जब किसी ऐसे उत्साही घुमक्कड़ से, जो श्रद्धेय कोटि के होते हैं, प्रेरणा मिलती है। उन दिनों श्रद्धेय आचार्य क्षितिमोहन सेन की प्रेरणा से प्रातः भ्रमण के लिए निकलता था। सही बात तो यह है कि निकलते वह थे, मैं पीछे हो लेता

था। तो उस दिन भी मैं उनके साथ ही निकला। भाग्य उस दिन प्रसन्न था। देखा, गुरुदेव धीरे-धीरे अपने बगीचे में टहल रहे थे। कुछ गंभीर मुद्रा में थे। आचार्य सेन ने कहा, "चलो प्रणाम कर लें।' वह आगे चले, मैं पीछे-पीछे। धीरे-धीरे दबे पाँव हम लोग उनके पास पहुँच गए। चरण छूकर प्रणाम निवेदन किया। उनका ध्यान भंग हुआ। देखकर प्रसन्न हुए। उन्होंने उस दिन मुझे संबोधित करते कहा – "तुमने कभी सोचा है कि भीष्म को अवतार क्यों नहीं माना गया और श्रीकृष्ण को ही क्यों अवतार रूप में सम्मान दिया गया?

मैंने कभी ऐसा सोचा ही नहीं था। क्या जवाब देता ? मैं मन-ही-मन अपने सोचने की शक्ति की दरिद्रता पर लज्जित हो रहा था। आचार्य सेन ने रक्षा की। वह बोले – "हम लोग तो ऐसे प्रश्नों का उत्तर आपसे ही सुनने की आशा रखते हैं।" गुरुदेव ने हँसते हुए कहा, "आपने तो कुछ सोचा ही होगा। मगर मैं पंडित को ही छेड़ना चाहता था। अभी नौजवान है, नया ख़ून है, मार खाने की अभी शक्ति है, मेरी पीठ तो जर्जर हो चुकी है। कहकर गुरुदेव खूब प्रसन्न भाव से हँसे।" मैंने विनीत भाव से कहा – "ऐसा प्रश्न तो मेरे मन में कभी उठा ही नहीं, परंतु आप कहते हैं तो सोचूँगा। परंतु क्या सोचूँ, यह बता दें। गुरुदेव के शब्द याद नहीं हैं, पर उनके कथन की मेरे मन पर जो छाप रह गई है, वह यह है कि शर-शय्या पर पड़े भीष्म ने जब भयंकर नरसंहार देखा होगा, उनके जैसे ज्ञानी के मन में अपनी प्रतिज्ञा, उसके परवर्ती परिणाम आदि बातें क्या उठी नहीं होंगी, मैंने सोचना शुरू किया था। कई प्रतिभाशाली मित्रों से भी सोचने को कहा था, पर सोचता ही रह गया। जिन्होंने सोचने के लिए उकसाया था, वह चले गए। आज मेरे मित्र ने कहा कि भीष्म को क्षमा नहीं किया गया तो बात फिर उमड़ कर नए रूप में मानसपटल पर हहरा उठी। लहराई तो क्या होगी !

भीष्म शर-शय्या पर सोए उपयुक्त काल की प्रतीक्षा कर रहे थे – मरने के लिए। जैसे-तैसे, जब-तब, जहाँ-तहाँ मरना भी ठीक नहीं होता। उचित मुहूर्त में मरना चाहिए। साधारण मनुष्य मुहूर्त का विचार किए बिना ही मर जाते हैं। भीष्म ऐसे नहीं थे। उन्हें इच्छा-मृत्यु का वरदान प्राप्त था। जब तक उत्तम मुहूर्त न आ जाए तब तक वह मृत्यु

नहीं चाहते थे। इसका फायदा उठाया युधिष्ठिर ने। सारी शंकाएँ उनसे कह डालीं और उत्तर भी वसूल कर लिए। मेरे एक आदि गुरु ने शर-शय्या वाली कहानी सुनाई थी। उनके कहने का मतलब था कि भीष्म पितामह अनेक बाणों की नोंक पर सोए हुए थे। उनका तकिया भी बाणों की नोक का ही बना था। मेरा बालक मन बहुत व्याकुल हो गया था। वह हज़ार ब्रह्मचारी रहे हों, उन्हें बाणों की नोंक तो चुभती ही होगी। बिचारे वृद्ध करवट भी नहीं बदल पाते होंगे। जब बदलते होंगे तब बाण बुरी तरह चुभ जाते होंगे। और उसी में युधिष्ठिर प्रश्नों की बौछार कर रहे होंगे। यद्यपि वह (युधिष्ठिर) तो दयालु थे, तथापि उस समय थोड़ी और दया दिखाते, तो क्या बिगड़ जाता ? मैं जब उस दृश्य की कल्पना करता था, तब मुझे बड़ी पीड़ा होती थी, पर दूसरे बच्चे ब्रह्मचर्य की महिमा का अनुभव करते थे और प्रसन्न होते थे। उनकी दृष्टि में ब्रह्मचारी के लिए यह कोई कष्ट की बात ही नहीं थी। मैं भी उसकी महिमा तो समझता था, पर न जाने क्यों मेरा मन दुःखी हो उठता था। बाद में मेरे एक विद्वान बुज़ुर्ग ने बताया कि "शर" सरकंडे को कहते थे। उसी से बाण बनते थे, इसलिए "शर" का अर्थ बाण हो गया। भीष्म वस्तुतः बाणों की नोंक पर नहीं, सरकंडों की चटाई पर लेटे थे। यह व्याख्या ठीक है या नहीं, पर मेरे बालक मन को इससे बड़ी राहत मिली थी। सो, भीष्म शर-शय्या पर थे अर्थात् सरकंडों की चटाई पर लेटे हुए थे। वैसे जर्जर वृद्ध के लिए यह भी कम कठोर शय्या नहीं थी, पर चुभने वाली नहीं होगी। समर्थ पौत्रों ने उसे कुछ तो तरीके से बनवाया ही होगा। युधिष्ठिर ने अच्छा ही किया जो उनका मन बातचीत में उलझाए रखा, परंतु जब युधिष्ठिर और अन्य लोग उन्हें विश्राम करने के लिए छोड़कर चले जाते होंगे, तब एकांत में इस बूढ़े के मन में क्या चिंता रहती होगी ? कुछ तो सोचते ही होंगे। श्रद्धालु लोग तो कहेंगे कि वह तुरंत ब्राह्मी स्थिति में चले जाते होंगे। भगवान श्री कृष्ण ने तो कहा ही है कि ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जाने पर कोई मोह होता ही नहीं। पर जिन्हें श्रद्धा का इतना संबल प्राप्त नहीं है, वे क्या करें? उन्हें लगता है कि भीष्म जैसा ज्ञानी भी कुछ सोचता जरूर होगा।

गुरुदेव पूछते हैं कि भीष्म को अवतार क्यों नहीं माना गया, मेरे यह मित्र कहते हैं, कि भीष्म को क्षमा नहीं किया गया। क्या दोनों बातों का अर्थ एक ही है? शायद भीष्म को क्षमा नहीं किया गया, इसीलिए उन्हें अवतार नहीं माना गया। कुछ बात है अवश्य। भारतवर्ष किसी बात पर मौन भी रह जाता है, तो उसका कुछ अर्थ होता है। किसी ने नहीं कहा कि भीष्म को अमुक-अमुक कारणों से अवतार नहीं माना गया और श्रीकृष्ण को अमुक-अमुक कारणों से अवतार माना गया। एक को विष्णु का अवतार नहीं कहा गया, क्योंकि वह नहीं थे, एक को मान लिया गया क्योंकि वस्तुतः थे। हमारे मनीषियों ने इसी ढंग से सोचा है।

दिनकर जी महामना और उदार कवि थे। उनसे क्षमा मिल जाने की आशा से इतना तो कहा ही जा सकता है कि भीष्म अपने बम भोला नाथ गुरु परशुराम से अधिक संतुलित, विचारवान् और ज्ञानी थे। पुराने रिकार्ड कुछ ऐसा सोचने को मजबूर करते हैं। फिर भी परशुराम को दस अवतारों में गिन लिया गया और बिचारे भीष्म को ऐसा कोई गौरव नहीं दिया गया। क्या कारण हो सकता है?

एकांत में भीष्म सरकंडों की चटाई पर लेटे-लेटे क्या अपने बारे में सोचते नहीं होंगे? मेरा मन कहता है कि ज़रूर सोचते होंगे। भीष्म ने कभी बचपन में पिता की गलत आकांक्षाओं की तृप्ति के लिए भीषण प्रतिज्ञा की थी – वह आजीवन विवाह नहीं करेंगे। अर्थात् इस संभावना को ही नष्ट कर देंगे कि उनके पुत्र होगा और वह या उसकी संतान कुरुवंश के सिंहासन पर दावा करेगी। प्रतिज्ञा सचमुच भीषण थी। कहते हैं कि इस भीषण प्रतिज्ञा के कारण ही वह देवव्रत से "भीष्म" बने। यद्यपि चित्रवीर्य और विचित्रवीर्य तक तो कौरव-रक्त रह गया था तथापि बाद में वास्तविक कौरव-रक्त समाप्त हो गया, केवल क़ानूनी कौरव वंश चलता रहा। जीवन के अंतिम दिनों में इतिहास मर्मज्ञ भीष्म को यह बात क्या खली नहीं होगी?

भीष्म को अगर यह बात नहीं खली तो और भी बुरा हुआ। परशुराम चाहे ज्ञान-विज्ञान की जानकारी का बोझ ढोने में भीष्म के समकक्ष न रहे हों, पर सीधी बात को सीधे समझने में निश्चय ही वह

उनसे बहुत आगे थे। वह भी ब्रह्मचारी थे – बालब्रह्मचारी। पर भीष्म जब अपने निर्वीर्य भाइयों के लिए कन्याहरण कर लाए और एक कन्या को अविवाहित रहने को बाध्य किया, तब उन्होंने भीष्म के इस अशोभन कार्य को क्षमा नहीं किया। समझाने-बुझाने तक ही नहीं रुके, लड़ाई भी की। पर भीष्म अपनी प्रतिज्ञा के शब्दों से चिपटे ही रहे। वह भविष्य नहीं देख सके, वह लोक कल्याण को नहीं समझ सके। फलतः अपहृता अपमानित कन्या जल मरी!

नारद जी भी ब्रह्मचारी थे। उन्होंने सत्य के बारे में शब्दों पर चिपटने को नहीं, सबके हित या कल्याण को अधिक ज़रूरी समझा था – सत्यस्य वचनम् श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्!

भीष्म ने दूसरे पक्ष की उपेक्षा की थी। वह ''सत्यस्य वचनम्'' को ''हित'' से अधिक महत्त्व दे गए। श्रीकृष्ण ने ठीक इससे उलटा आचरण किया। प्रतिज्ञा में ''सत्यस्य वचनम्'' की अपेक्षा ''हितम्'' को अधिक महत्त्व दिया। क्या भारतीय सामूहिक चित्त ने भी उन्हें पूर्णावतार मानकर इसी पक्ष को अपना मौन समर्थन दिया है? एक बार गलत-सही जो कह दिया, उसी से चिपट जाना ''भीषण'' हो सकता है, हितकर नहीं। भीष्म ने ''भीषण'' को ही चुना था।

भीष्म और द्रोण भी, द्रौपदी का अपमान देखकर भी क्यों चुप रह गए? द्रोण ग़रीब अध्यापक थे, बाल-बच्चे वाले थे। ग़रीब ऐसे कि गाय भी नहीं पाल सकते थे। बिचारी ब्राह्मणी को चावल का पानी देकर दूध माँगने वाले बच्चे को फुसलाना पड़ा था। उसी अवस्था में फिर लौट आने का साहस कम लोगों में होता है, पर भीष्म तो पितामह थे। उन्हें बाल-बच्चों की फिक्र भी नहीं थी, भीष्म को क्या परवाह थी। एक कल्पना यह की जा सकती है कि महाभारत की कहानी जिस रूप में प्राप्त है, वह उसका बाद का परिवर्तित रूप है। शायद पूरी कहानी जैसी थी, वैसी नही मिली है। लेकिन आजकल के लोगों को आप जो चाहें कह लें, पुराने इतिहासकार इतने गिरे हुए नहीं होंगे कि पूरा इतिहास ही उलट दें। सो, इस कल्पना से भी भीष्म की चुप्पी समझ में नहीं आती। इतना सच जान पड़ता है कि भीष्म के कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय में कहीं कोई कमजोरी थी। वह उचित अवसर पर उचित निर्णय नहीं ले

पाते थे । यद्यपि वह जानते बहुत थे, तथापि कुछ निर्णय नहीं ले पाते थे। उन्हें अवतार न मानना ठीक ही हुआ। आजकल भी ऐसे विद्वान् मिल जाएँगे, जो जानते बहुत हैं, करते कुछ भी नहीं। करने वाला इतिहास निर्माता होता है, सिर्फ सोचते रहने वाला इतिहास के भयंकर रथचक्र के नीचे पिस जाता है। इतिहास का रथ वह हाँकता है, जो सोचता है और सोचे को करता भी है।

प्रश्न-अभ्यास

1. देवव्रत का नाम 'भीष्म' कैसे पड़ा?
2. प्राचीनकाल के धर्मज्ञों और ज्ञानियों में लेखक भीष्म से सबसे अधिक प्रभावित क्यों है?
3. भीष्म का चरित्रांकन करते हुए बताइए कि उन्हें अवतार क्यों नहीं माना गया?
4. इच्छा-मृत्यु से क्या तात्पर्य है?
5. भीष्म की शर-शय्या की विभिन्न व्याख्याओं का लेखक के बाल मन पर क्या प्रभाव पड़ा ?
6. निम्नलिखित चरित्रों की विशेषताएँ बतलाइए:
   (क) परशुराम, (ख) नारद (ग) द्रोण (घ) युधिष्ठिर
7. भारतीय मनीषा और चिंतन शैली की जो झलक इस पाठ से मिलती है, उसका विशद वर्णन कीजिए।
8. निम्नांकित मूल शब्दों से जितने अधिक शब्द बना सकते हैं, बनाइए:
   साहस, कल्पना, रूप, श्रद्धा, प्रभाव, उत्साह, स्वीकार, धर्म, लोक, जीव।
9. निम्नलिखित की व्याख्या कीजिए :
   (क) भविष्य विकट असहिष्णु है।
   (ख) भविष्य नामक महादुरंत अज्ञात मुझे किसी गिनती में लेने वाला नहीं है।
   (ग) भारतवर्ष किसी बात पर मौन भी रह जाता है तो उसका कुछ अर्थ होता है
   (घ) इतिहास का रथ वह हाँकता है, जो सोचता है और सोचे को करता भी है।

हरिशंकर परसाई

(1922)

हरिशंकर परसाई का जन्म जिला होशंगाबाद (मध्य प्रदेश) के जमानी ग्राम में हुआ। उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए. किया। कुछ वर्षों तक अध्यापन-कार्य करने के पश्चात् नौकरी का मोह छोड़-कर सन् 1947 ई. से स्वतंत्र लेखन को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। जबलपुर से "बसुधा" नामक साहित्यिक मासिक पत्रिका निकाली जिसे घाटे के बावजूद कई वर्षों तक चलाते रहे। एक लंबे अर्से से हिन्दी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से व्यंग्य रचनाएँ लिख रहे हैं।

परसाई मुख्यतः व्यंग्य लेखक हैं, पर उनका व्यंग्य केवल मनोरंजन के लिए नहीं है। उन्होंने अपने व्यंग्य के द्वारा जीवन की उन विसंगतियों की ओर हमारा ध्यान बार-बार आकृष्ट किया है जो हमारे जीवन को दूभर बना रही हैं। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार और शोषण पर भी करारा व्यंग्य किया है जो हिन्दी व्यंग्य साहित्य में बेजोड़ है। भाषा प्रयोग में परसाई बड़े कुशल हैं। प्रायः बोलचाल के शब्दों का चयन करते हैं पर कहाँ कौन-सा शब्द अधिक अर्थवत्ता प्रदान करेगा, उसका ध्यान परसाई जी को सदा रहता है।

परसाई ने दो दर्जन से अधिक पुस्तकों की रचना की है जिनमें प्रमुख हैं – "हँसते हैं रोते हैं", "जैसे उनके दिन फिरे" (कहानी संग्रह), "रानी नागफनी की कहानी", "तट की खोज" (उपन्यास), "तब की बात और थी", "भूत के पाँव पीछे", 'बेईमानी की परत", "पगडंडियों का जमाना", "सदाचार की ताबीज", "शिकायत मुझे भी

हैं'', ''और अंत में'' (निबंध संग्रह), ''वैष्णव की फिसलन'', ''तिरछी रेखाएँ'', ''ठिठुरता हुआ गणतंत्र'' ''विकलांग श्रद्धा का दौर'' (व्यंग्य निबंध संग्रह) आदि। ''परसाई रचनावली'' के रूप में छह भागों में उनका समग्र साहित्य प्रकाशित है।

प्रस्तुत निबंध ''निन्दा रस'' व्यंग्य की दृष्टि से बहुत सफल रचना है। अनेक लोग निन्दा-कर्म में लीन होकर ही अपना जीवन सार्थक समझते हैं। केवल दूसरों की गुणवत्ता को नकारकर आलोचना करना ही वे अपना परम कर्तव्य समझते हैं। निन्दा-कर्म के विश्लेषण में श्री परसाई ने निन्दकों पर जो प्रहार किए हैं वे तीखे तो हैं, किन्तु पढ़ने में प्रिय लगते हैं। कदाचित् ''निन्दा रस'' को पढ़कर निन्दा करने वालों को कुछ शिक्षा मिले।

5. निन्दा रस

''क'' कई महीने बाद आए थे। सुबह चाय पीकर अखबार देख रहा था कि वे ''तूफ़ान'' की तरह कमरे में घुसे, ''साइक्लोन'' की तरह मुझे अपनी भुजाओं में जकड़ा तो मुझे धृतराष्ट्र की भुजाओं में जकड़े भीम के पुतले की याद आ गई। वह धृतराष्ट्र की ही जकड़ थी। अंधे धृतराष्ट्र ने टटोलते हुए पूछा, ''कहाँ है भीम ? आ बेटा, तुझे कलेजे से लगा लूँ।'' और जब भीम का पुतला उनकी पकड़ में आ गया, उन्होंने प्राण-घाती स्नेह से उसे जकड़कर चूर कर डाला।

ऐसे मौके पर हम अक्सर अपने पुतले को अँकवार में दे देते हैं, हम अलग खड़े देखते रहते हैं। ''क'' से क्या मैं गले मिला ? क्या मुझे उसने समेटकर कलेजे से लगा लिया ? हरगिज नहीं। मैंने अपना पुतला ही उसे दिया। पुतला इसलिए उसकी भुजाओं में सौंप दिया कि मुझे मालूम था कि मैं धृतराष्ट्र से मिल रहा हूँ। पिछली रात को एक मित्र ने बताया कि ''क'' अपनी ससुराल आया है और ''ग'' के साथ बैठकर शाम को दो-तीन घंटे तुम्हारी निंदा करता रहा। इस सूचना के बाद जब आज सवेरे वह मेरे गले लगा तो मैंने शरीर से अपने मन को चुपचाप खिसका दिया और निस्नेह कँटीली देह उसकी बाँहों में छोड़ दी। भावना के अगर काँटे होते तो उसे मालूम होता कि वह नागफनी को कलेजे से चिपटाए है। छल का धृतराष्ट्र जब आलिंगन करे, तो पुतला ही आगे बढ़ाना चाहिए।

पर वह मेरा दोस्त अभिनय में पूरा है। उसके आँसू भर नहीं आए बाकी मिलन के हर्षोल्लास के सब चिह्न प्रकट हो गए – वह गहरी आत्मीयता की जकड़, नयनों से छलकता वह असीम स्नेह और वह स्नेह-सिक्त वाणी।

बोला, "अभी सुबह गाड़ी से उतरा और एक दम तुमसे मिलने चला आया, जैसे आत्मा का एक खंड दूसरे खंड से मिलने को आतुर रहता है।" आते ही झूठ बोला कंबख़्त!कल का आया है, यह मुझे मेरा मित्र बता गया था। इस झूठ में कोई प्रयोजन शायद उसका न रहा हो। कुछ लोग बड़े निर्दोष मिथ्यावादी होते हैं। वे आदतन, प्रकृति के वशीभूत झूठ बोलते हैं। उनके मुख से निष्प्रयास निष्प्रयोजन झूठ ही निकलता है। मेरे एक रिश्तेदार हैं। वे अगर बंबई जा रहे हैं और उनसे पूछें, तो वे कहेंगे, "कलकत्ता जा रहा हूँ।" ठीक बात उनके मुँह से निकल ही नहीं सकती। "क" भी बड़ा निर्दोष, सहज-स्वाभाविक मिथ्यावादी है।

वह बैठा। कब आए ? कैसे हो ? वगैरह के बाद उसने "ग" की निन्दा प्रारंभ कर दी। मनुष्य के लिए जो भी कर्म जघन्य हैं, वे सब "ग" पर आरोपित करके उसने ऐसे गाढ़े काले तारकोल से उसकी तस्वीर खींची कि मैं सोचकर काँप उठा कि ऐसी ही काली तस्वीर मेरी "ग" के सामने इसने कल शाम को खींची होगी।

सुबह की बातचीत में "ग" प्रमुख विषय था। फिर तो जिस परिचित की बात निकल आती, उसी को चार-छह वाक्यों से धराशायी करके वह बढ़ लेता।

अद्‌भुत है मेरा यह मित्र। उसके पास दोषों का "कैटलॉग" है। मैंने सोचा कि जब यह हर परिचित की निन्दा कर रहा है, तो क्यों न मैं लगे हाथ विरोधियों की गत, इसके हाथों करा लूँ। मैं अपने विरोधियों का नाम लेता गया और वह उन्हें निन्दा की तलवार से काटता चला। जैसे लकड़ी चीरने की आरा मशीन के नीचे मज़दूर लकड़ी का लट्‌ठा खिसकाता जाता है और वह चीरता जाता है, वैसे ही मैंने विरोधियों के नाम एक-एक करके खिसकाए और वह उन्हें काटता गया। कैसा आनंद था ! दुश्मनों को रणक्षेत्र में एक के बाद एक कटकर गिरते हुए देखकर योद्धा को ऐसा ही सुख होता होगा।

मेरे मन में गत रात्रि के उस निन्दक मित्र के प्रति मैल नहीं रहा। दोनों एक हो गए। भेद तो रात्रि के अंधकार में ही मिटता है, दिन के उजाले में भेद स्पष्ट हो जाते हैं। निन्दा का ऐसा ही भेद-नाशक अँधेरा होता है। तीन-चार घंटे बाद, जब वह विदा हुआ, तो हम लोगों के मन

में बड़ी शांति और तुष्टि थी।

निन्दा की ऐसी ही महिमा है। दो-चार निन्दकों को एक जगह बैठ कर निन्दा में निमग्न देखिए और तुलना कीजिए दो-चार ईश्वर-भक्तों से जो रामधुन गा रहे हैं। निन्दकों की-सी एकाग्रता, परस्पर आत्मीयता, निमग्नता भक्तों में दुर्लभ है। इसीलिए संतों ने निन्दकों को ''आँगन कुटी छवाय'' पास रखने की सलाह दी है।

कुछ ''मिशनरी'' निन्दक मैंने देखे हैं। उनका किसी से बैर नहीं, द्वेष नहीं। वे किसी का बुरा नहीं सोचते। पर चौबीसों घंटे वे निन्दा कर्म में बहुत पवित्र भाव से लगे रहते हैं। उनकी नितांत निर्लिप्तता, निष्पक्षता इसी से मालूम होती है कि वे प्रसंग आने पर अपने बाप की पगड़ी भी उसी आनंद से उछालते हैं, जिस आनंद से अन्य लोग दुश्मन की, निन्दा इनके लिए ''टॉनिक'' होती है।

ट्रेड यूनियन के इस जमाने में निन्दकों के संघ बन गए हैं। संघ के सदस्य जहाँ-तहाँ से खबरें लाते हैं और अपने संघ के प्रधान को सौंपते हैं। यह कच्चा माल हुआ। अब प्रधान उनका पक्का माल बनाएगा और सब सदस्यों को ''बहुजन हिताय'' मुफ़्त बाँटने के लिए दे देगा। यह फ़ुरसत का काम है, इसलिए जिनके पास कुछ और करने को नहीं होता, वे इसे बड़ी खूबी से करते हैं। एक दिन हमसे एक ऐसे संघ के अध्यक्ष ने कहा, ''यार, आजकल लोग तुम्हारे बारे में बहुत बुरा-बुरा कहते हैं।'' हमने कहा, ''आपके बारे में मुझसे कोई भी बुरा नहीं कहता। लोग जानते हैं कि आपके कानों के घूरे में इस तरह का कचरा मजे में डाला जा सकता है।''

ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित निन्दा भी होती है। लेकिन इसमें वह मजा नहीं जो मिशनरी भाव से निन्दा करने में होता है। इस प्रकार का निन्दक बड़ा दुःखी होता है। ईर्ष्या-द्वेष से चौबीसों घंटे जलता है और निन्दा का जल छिड़ककर कुछ शांति अनुभव करता है। ऐसा निन्दक बड़ा दयनीय होता है। अपनी अक्षमता से पीड़ित वह बेचारा दूसरे की सक्षमता के चाँद को देखकर सारी रात श्वान जैसा भौंकता है। ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित निंदा करने वाले को कोई दंड देने की ज़रूरत नहीं है। वह निंदक बेचारा स्वयं दंडित होता है। आप चैन से सोइए और वह जलन के कारण सो नहीं पाता।

उसे और क्या दंड चाहिए ? निरंतर अच्छे काम करते जाने से उसका दंड भी सख्त होता जाता है। जैसे, एक कवि ने एक अच्छी कविता लिखी, ईर्ष्या ग्रस्त निन्दक को कष्ट होगा। अब अगर एक और अच्छी कविता लिख दी, तो उसका कष्ट दुगना हो जाएगा।

निन्दा का उद्गम ही हीनता और कमजोरी से होता है। मनुष्य अपनी हीनता से दबता है। वह दूसरों की निन्दा करके ऐसा अनुभव करता है कि वे सब निकृष्ट हैं और वह उनसे अच्छा है। उसके अहं की इससे तुष्टि होती है। बड़ी लकीर को कुछ मिटाकर छोटी लकीर बड़ी बनती है। ज्यों-ज्यों कर्मक्षीण होता जाता है, त्यों-त्यों निन्दा की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। कठिन कर्म ही ईर्ष्या-द्वेष और इनसे उत्पन्न निन्दा को मारता है। इंद्र बड़ा ईर्ष्यालु माना जाता है। क्योंकि वह निठल्ला है। स्वर्ग में देवताओं को बिना उगाया अन्न, बे बनाया महल और बिन-बोए फल मिलते हैं। अकर्मण्यता में उन्हें अप्रतिष्ठित होने का भय बना रहता है, इसलिए कर्मी मनुष्यों से उन्हें ईर्ष्या होती है।

निन्दा कुछ लोगों की पूँजी होती है। बड़ा लंबा-चौड़ा व्यापार फैलाते हैं वे इस पूँजी से। कई लोगों की प्रतिष्ठा ही दूसरों की कलंक कथाओं के पारायण पर आधारित होती है। बड़े रसविभोर होकर वे जिस-तिस की सत्यकल्पित कलंक-कथा सुनाते हैं और स्वयं को पूर्ण संत समझने की तुष्टि का अनुभव करते हैं।

आप इनके पास बैठिए और सुन लीजिए, ''बड़ा खराब ज़माना आ गया। तुमने सुना ? फलाँ और अमुक . . . .।'' अपने चरित्र पर आँख डालकर देखने की उन्हें फ़ुरसत नहीं होती। एक कहानी याद आ रही है। एक स्त्री किसी सहेली के पति की निन्दा अपने पति से कर रही है। वह बड़ा उचक्का, दग़ाबाज़ आदमी हैं। बेईमानी से पैसा कमाता है। कहती है कि मैं उस सहेली की जगह होती तो ऐसे पति को त्याग देती। तब उसका पति उसके सामने यह रहस्य खोलता है कि वह स्वयं बेईमानी से इतना पैसा कमाता है। सुनकर स्त्री स्तब्ध रह जाती है। क्या उसने पति को त्याग दिया ? जी हाँ, वह दूसरे कमरे में चली गई।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हममें जो करने की क्षमता नहीं है, वह यदि कोई करता है तो हमारे पिलपिले अहं को धक्का लगता है,

हममें हीनता और ग्लानि आती है। तब हम उसकी निन्दा करके उससे अपने को अच्छा समझकर तुष्ट होते हैं।

उस मित्र की मुलाक़ात के करीब दस-बारह घंटे बाद यह सब मन में आ रहा है। अब कुछ तटस्थ हो गया हूँ। सुबह जब उसके साथ बैठा था तब मै स्वयं निन्दा के "काला सागर" में डूबता-उतराता था, कल्लोल कर रहा था। बड़ा रस है न निन्दा में। सूरदास ने इसलिए इसे "निन्दा सबद रसाल" कहा है।

प्रश्न-अभ्यास

1. लेखक ने निम्नांकित प्रकार के निन्दकों की क्या-क्या विशेषताएँ बताई हैं?
   (क) निर्दोष मिथ्यावादी निन्दक
   (ख) मिशनरी निन्दक
   (ग) ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित निन्दक
2. "छल का धृतराष्ट्र जब आलिंगन करे तो पुतला बढ़ाना चाहिए।" उपर्युक्त वाक्य का आशय स्पष्ट कीजिए।
3. निन्दा कैसे लोगों के लिए टॉनिक होती है और कैसे लोगों के लिए दर्द ?
4. जघन्य कर्मों और दोषों का अंतर स्पष्ट करते हुए दोषों का "कैटलॉग" तैयार कीजिए।
5. निन्दा रस का उद्‌गम स्रोत बताइए।
6. निन्दा की महिमा का वर्णन पाठ के आधार पर कीजिए।
7. निन्दा किस प्रकार कुछ लोगों की पूँजी होती है।
8. लेखक के किन्हीं पाँच व्यंग्य-कथनों का चयन करके उनमें निहित व्यंग्य को स्पष्ट कीजिए।
9. निम्नांकित वाक्यों के रेखांकित शब्दों के प्रयोग और उपयुक्तता पर प्रकाश डालिए :
   (क) कुछ लोग बड़े निर्दोष मिथ्यावादी होते हैं।
   (ख) वे "तूफान" की तरह कमरे में घुसे और "साइक्लोन" की तरह मुझे अपनी भुजाओं में जकड़ लिया।
   (ग) इस सूचना के बाद जब आज सवेरे वह मेरे गले लगा तो मैंने शरीर से अपने मन को चुपचाप खिसका दिया और निस्नेह, कँटीली देह उसकी

बाँहों में छोड़ दी।

(घ) निन्दा का ऐसा ही भेद-नाशक अंधेरा होता है।

(ड.) कभी-कभी ऐसा भी होता है तो हमारे पिलपिले अहं को धक्का लगता है।

10. हरिशंकर परसाई के व्यंग्य–प्रधान निबंधों की कतिपय विशेषताएँ पाठ के आधार पर सोदाहरण बताइए।

कुबेरनाथ राय

(1935)

कुबेरनाथ राय का जन्म 1935 ई. में उत्तर प्रदेश के गाजीपुर ज़िले में स्थित मतसा गाँव में हुआ। उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और कलकत्ता विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की । विद्यार्थी-जीवन में ही उनका साहित्य के प्रति विशेष रुझान हो गया था। 'माधुरी' और 'विशाल भारत' में उनकी रचनाएँ प्रायः प्रकाशित होती रहीं।

कुबेरनाथ राय नई पीढ़ी के ललित निबंधकार हैं। निबंध के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य को उनका अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने प्राचीन संस्कृति को वर्तमान युग के परिप्रेक्ष्य में देखने का सफल प्रयत्न किया है। गहन चिन्तन-मनन तथा कलाप्रेम से युक्त उनके निबंध, विषय वैविध्य की दृष्टि से अनायास ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं। अर्थगांभीर्य और व्यंजना की दृष्टि से भी उनके निबंध बेजोड़ हैं। प्रत्येक निबंध में सहृदय पाठक को नई-नई सहानुभूतियाँ और नए-नए दिशा-संकेत देखने को मिलते हैं।

"प्रिया नीलकंठी", "रस-आखेटक", "गंध मादन", "विषाद-योग", "पर्णमुकुट", "निषाद-बाँसुरी", "मन पवन की नौका", "दृष्टि अभिसार", कुबेरनाथ राय के प्रमुख निबंध-संग्रह हैं। इनमें पहले पाँच संग्रह उत्तर प्रदेश शासन तथा अन्य संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत हैं।

कुबेरनाथ जी की लेखन-शैली अत्यंत लालित्यपूर्ण और रोचक है। उनकी भाषा विषयानुकूल है। माधुर्य एवं ओज का सम्मिश्रण उक्ति-वैचित्र्य, इतिहास-पुराण के नूतन संदर्भ प्रतीकात्मकता और

चित्रात्मकता उनकी भाषा-शैली की निजी विशेषताएँ हैं। तत्सम शब्दों की प्रधानता होते हुए भी उनकी भाषा में उर्दू-फारसी, अंग्रेज़ी, देशज एवं तद्भव शब्दों का यथा-स्थान प्रयोग मिलता है।

प्रस्तुत निबंध 'दृष्टि अभिसार' निबंध-संग्रह से संकलित है। इस निबंध में लेखक ने हिन्दी भाषा के स्वरूप को सरल, बोधगम्य और प्रवहमान बनाने के साथ-साथ उसके शब्द-भंडार को प्रादेशिक बोलियों के नए-नए शब्दों से भरने का परामर्श दिया है। लेखक की कामना है कि जन साधारण में हिन्दी भाषा का व्यापक प्रसार हो और जनमानस से जुड़ कर वह अपने राष्ट्रीय दायित्व का निर्वाह कर सके।

6. भाषा बहता नीर

भाषा बहता नीर। भाषा एक प्रवहमान नदी। भाषा बहता हुआ जल। बात ब़ावन तोले पाव रत्ती सही। कबीर की कही हुई है तो सही होनी ही चाहिए। कबीर थे बड़े दबंग और उनका दिल बड़ा साफ़ था। अतः इस बात के पीछे उनके दिल की सफ़ाई और सहजता झाँकती है, इससे किसी को भी एतराज़ नहीं हो सकता।

बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति है कबीर की उक्ति की भी, "संस्कृत कूप जल है, पर भाषा बहता नीर !" भाषा तो बहता नीरं है। पर "नीर" को एक व्यापक संदर्भ में देखना होगा। साथ ही संस्कृत मात्र कूप जल कभी नहीं है। कबीर के पास इतिहास-बोध नहीं था अथवा था भी तो अधूरा था। इतिहास-बोध उनके पास रहता तो "अत्याचारी" और "अत्याचार-ग्रस्त" दोनों को वह एक ही लाठी से नहीं पीटते। खैर, इस अवांतर प्रसंग में न जाकर मैं इतना ही कहूँगा कि संस्कृत की भूमिका भारतीय भाषाओं और साहित्य के संदर्भ में "कूप जल" से कहीं ज़्यादा विस्तृत है। वस्तुतः उनके इस वाक्यांश, "संस्कृत भाषा कूप जल" का संबंध भाषा—साहित्य से है ही नहीं। यह वाक्यांश पुरोहित तंत्र के खिलाफ़ ढेलेबाजी भर है जिसका प्रतीक थी संस्कृत भाषा। इस संदर्भ में इस ढेलेबाजी का एक सार्थक मूल्य भी है। परंतु भाषा-साहित्य के संदर्भ में "संस्कृत कूप जल" वाली बात भ्रामक है। और दूसरे अंश "भाषा बहता नीर" से संयुक्त होने के कारण अनेक भ्रमों की सृष्टि करती है। और कबीर की भाषा संबंधी "बहता नीर" वाली "थीसिस" स्वीकारते हुए भी समूचे कथन के संदर्भ में कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है।

संस्कृत कूप जल मात्र नहीं। उसकी भूमिका विस्तृत और विशाल

है। वह भाषा-नदी को जल से सनाथ करने वाला पावस मेघ है, वह परम पद का तुहिन व्योम है, वह हिमालय के हृदय का "ग्लेशियर" अर्थात् हिमवाह है। जब हिमवाह गलता है तभी बहते नीर वाली नदी में जीवन-संचार होता है। जब उत्तर दिशा में तुषार पड़ती है तो वही राशिभूत होकर हिमवाह का रूप धारण करती है। जब हिमवाह पिघलता है तो नदी जीवन पाती है, अन्यथा उसका रूपांतर मृतशय्या में हो जाता है। हिमालय दूर है, हिमवाह नज़रों से ओझल है, पर जानने वाले जानते हैं कि यह तृषातोषक अमृत वारि जो गाँव-नगर की प्यास बुझाता हुआ सागर-संगम तक जा रहा है, हिमालय का पिघला हुआ हृदय ही है। यदि यह हृदय-कपाट बद्ध या अवरुद्ध हो जाए तो नदी बेमौत मारी जाएगी। ऐसा कई बार हुआ है। एक दिन था जब सरस्वती नदी हरियाणा अंचल में बहती हुई सिंध में जाकर सतलुज में मिलती थी। परंतु बाद में उसको पोषित करने वाले ग्लेशियरों का मुख भिन्न दिशा में हो गया, वे सरस्वती से विमुख होकर यमुना में ढल गए, आज भी यमुना की ओर ही वे जल-दान प्रेरित कर रहे हैं। फलतः यमुना लबालब हो गई, सरस्वती की मृत्यु हो गई। वस्तुतः सरस्वती का जल अब भी हम पा रहे हैं, परंतु इस जल का अब गोत्रनाम "यमुना जल" है . . . हिमवाह के अतिरिक्त नदी के बहते नीर का दूसरा स्रोत है परम व्योम में विचरण करने वाले मेघ। पर बरसाती नदियों के लिए ही। बड़ी नदियों का जल स्रोत तो हिमवाह है। तो कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत "कूप जल" नहीं भाषा और संस्कार दोनों ही दृष्टि से यह हमारे बोली और जीवन के प्रवहमान रूपों के लिए व्योममेघ या हिमवाह स्वरूप है। हिन्दुस्तानी आकाश में मेघ है, हिन्दुस्तानी हिमालय का हृदय निरंतर गल रहा है, इसी से हिन्दुस्तानी जलधाराओं में मीठा बहता पानी निरंतर सुलभ है। इसी तरह देखें तो कहना पड़ेगा कि संस्कृत एक प्राणवान स्रोत के रूप में भाषा-संस्कृति, आचार-विचार हर दृष्टि से अस्तित्वमान है। इसी से "यूनान, मिश्र, रोमों के मिट जाने पर भी हम नहीं मिटे हैं। हमारा अस्तित्व कायम है।"

यों कबीर की बात का जो पाज़िटिव (हाँ-धर्मी) अर्थ है उसे मैं शत-प्रतिशत मानता हूँ कि लेखन में बोलचाल की भाषा का प्रयोग

लेखन को स्वस्थ और सबल रखता है । एक उचित संदर्भ में प्रयुक्त होने पर यह बात बिल्कुल सही है। परंतु जब इसी बात का उपयोग हिन्दी को जड़मूल से छिन्न (रूटलेस) करने के लिए बदनीयती से किया जाता है तो बात आपत्तिजनक हो जाती है। संदर्भ बदल देने से किसी भी बात का स्वाद और प्रहार भिन्न हो सकता है।

कबीर की बातों का केवल सत्यग्राही अर्थ ही मुझे मंजूर है, चाहे यह बात हो या कोई और बात। स्वयं कबीर ने संस्कृत का उपयोग किया है अपनी भाषा में । कबीर बहुत बड़े आदमी हैं। उनके खिलाफ कुछ कहना छोटे मुँह बड़ी बात जैसी हिमाकत होगी। परंतु कबीर भी कहीं-कहीं जाकर "आम आदमी" ही ठहरते हैं और "संस्कृत भाषा कूप जल" वाली बात उसी "आम आदमी" की खीझ है जबकि दूसरा वाक्यांश खीझ नहीं एक सूझ है। मैं भी मानता हूँ कि भाषा बहता नीर है, भाषा मरुतप्राण है, खुले मैदान की ताजी हवा है, भाषा चिड़ियों के कंठ से निकला "राम-राम के पहर" में सवेरे का कलरोर है, पशुओं के कंठ से रँभाता हुआ आवाहन है, उनका हुंकार है, लोलुप श्वापदों के कंठ से निकला महा तामसी गर्जन भी है। भाषा बच्चे की तोतली बोली भी है, माँ की वात्सल्य भरी साँसें भी है, विरह कातर शोक-उच्छ्वास भी है और मुदितचक्षु सुख के क्षणों का मौन-मधु भी है। वज्र की कड़क से लेकर शब्दहीन मौन तक के सारे सहज स्वाभाविक व्यापारों को भाषा अपने स्वभाव से धारण करके चलती है।

भाषा बहता नीर एक सही कथन होने के साथ-साथ सतही नहीं, गंभीर कथन है। इस कथन की गंभीरता पर ज़रा विचार करें। क्या यह "बहता नीर" महज आज का ही "बहता नीर" है। इतनी स्थूल और सतही दृष्टि से सोचना कबीर के एक महावाक्य को पुनः लँगड़ा और बौना कर देना होगा। भाषा बहता नीर है तो इसमें किसी भी युग, किसी भी क्षेत्र का शब्द अंतर्भुक्त हो सकता है। शर्त यही है कि (1) अभिव्यक्ति की माँग उस शब्द की हो, (2) यह शब्द वाक्य में सहजता से खप जाए, (3) अल्प प्रयत्न के बाद समझ में आ जाए। यों तीसरी शर्त का क्षेत्र भी संदर्भ के अनुसार निर्धारित हो सकेगा। हर जगह "दो आने तंबाकू दो" जैसी सरल बोधगम्य अभिव्यक्ति से काम नहीं चल सकता।

परंतु हमारा आदर्श सहजता और बोधगम्यता ही होना चाहिए। बिना ज़रूरत भाषा को दुरूह करना कबीर के इस महावाक्य की प्रकृति के प्रतिकूल होगा। पर जहाँ ज़रूरत हो, वहाँ भाषा के समग्र प्रवाह से, सर्व कालव्यापी प्रवाह से शब्द लेने का हमारा अधिकार होना चाहिए जो हमें इस अधिकार से वंचित करने के लिए कबीर की इस बात का सीमित बौना अर्थ लगाते हैं, वे किसी कूट मतलब से ऐसा कर रहे हैं। सर्वदा बाज़ार में चालू शब्दों से ही हमारा काम नहीं चल सकता। लेखक फ़िल्मकार नहीं, वह शिक्षक भी है। उसका कर्तव्य जनमानस को ज़्यादा से ज़्यादा समृद्ध करना है और इस दृष्टि से वह नए शब्द अपने पाठकों को सिखाएगा ही। उसका दायित्व फिल्म-निर्माता के व्यवसायी दायित्व से बड़ा है।

कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा को अकारण दुरूह या कठिन नहीं बनाना चाहिए। परंतु सकारण ऐसा करने में कोई दोष नहीं। गोसाई जी जब दार्शनिक विवेचन करने बैठते हैं तो उसी "मानस" की भाषा में ऐसी पंक्तियाँ भी लिखते हैं, "होई घुणाक्षर न्याय जिमि पुनि प्रत्यूह अनेक।" या कबीर को खुद ज़रूरत पड़ती है तो योगशास्त्र और वेदांत की शब्दावली ग्रहण करते हैं। हर जगह लुकाठी हाथ में लिए सरे बाज़ार खड़े ही नहीं मिलते। मानसरोवर में डूबकर मोती ढूँढ़ते समय की भाषा बाज़ार वाली भाषा नहीं। निबंधकार का काम होता है पाठक के मानसिक-बौद्धिक क्षितिज का विस्तार। वह फिल्म प्रोड्यूसर नहीं कि पाठक की बुद्धि क्षमता की पूँछ को पकड़े-पकड़े चले। साहित्यकार पाठक की अँगुली पकड़ कर नहीं चलता बल्कि पाठक साहित्यकार की अँगुली पकड़कर चलता है। सनातन काल से यही संबंध रहा है, आज जनवादी युग का सस्ता नारा उठाकर इस संबंध को परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

हिन्दी की भूमिका आज बहुत बड़ी हो गई है। उसे आज वही काम करना है जो कभी संस्कृत करती थी और आज जिसे एक खंडित रूप में ही सही अंग्रेज़ी कर रही है, उच्च शिक्षित वर्ग के मध्य। उसे संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनना है, उसके अंदर वैसी आंतरिक ऋद्धि-सिद्धि लानी है जो भारत जैसे महान और विशाल देश की

राष्ट्रभाषा के लिए अपेक्षित है। अतः "बहता नीर" का चालू सतही अर्थ न लेकर उसे एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखना होगा, जिसका आभास ऊपर दिया जा चुका है। सधुक्कड़ी और चुनाव-भाषणों से ज़्यादा वृहत्तर दायित्व है इस हिन्दी का। यह स्मरण रखते हुए हम भाषा के संबंध में चिंतन करें तो अच्छा होगा। जिसको हम "बहता नीर" मानकर ग्रहण कर रहे हैं, वह वस्तुतः हिमालय का दान है, हिमालय के पुत्र हिमवाहों का दान है और अनंतशायी समुद्र की वाष्प-लक्ष्मी का दान है। हिन्दी की आंचलिक बोलियों को, भोजपुरी, मगही, अवधी, छत्तीसगढ़ी, ब्रजभाषा आदि-आदि को हम इस "बहता नीर" का अंग ही मानते हैं। पीका, सीका, बेहन, गाछ, पुली, गुदारा (भा भिनुसार गुदारा लागा) जैसे शब्द खड़ी बोली के पास कहाँ हैं! धरहर, अदहन, पगहा जैसे भोजपुरी शब्दों का प्रयोग मैंने किया है। "पगहा" अर्थात् जो "चरण" (गति) को ही ध्वस्त कर दें, अपहृत कर लें यानी पशु के बाँधने की रस्सी। ऐसे अभिव्यक्तिपूर्ण शब्द खड़ी बोली में मिलने दुर्लभ हैं। हम न केवल आंचलिक बोलियों बल्कि अगल-बगल की भाषाओं से यथा पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, असमिया, बँगला से भी शब्द और मुहावरे ले सकते हैं। "दूर के ढोल सुहावने" के साथ-साथ असमिया लोकोक्ति "पहाड़ दूर से ही सुंदर लगता है।" भी मजे से चल सकता है।

संस्कृत भाषा के समृद्ध तथा अभिव्यक्ति-क्षम होने का रहस्य है। यही भूमावृत्ति अर्थात् शब्द-संपदा को चारों दिशाओं से आहरण करने की वृत्ति। यही कारण है कि संस्कृत में एक शब्द के अनेक पर्याय हैं। ये सारे पर्याय मूल रूप से विभिन्न भारतीय अंचलों से प्राप्त शब्द के लिए क्षेत्रीय प्रतिशब्द मात्र हैं। इस संदर्भ में अपनी एक आप बीती सुनाऊँ। कुछ वर्ष पूर्व मद्रास की ओर यात्रा कर रहा था हावड़ा-पुरी मार्ग से। गाड़ी उड़ीसा से दक्षिणी भागों में चल रही थी कि एक छोटे से स्टेशन पर (नाम स्मरण नहीं) एक आदमी खिड़की के पास से चिल्लाता हुआ गुजरा, "कडली, कडली"। मेरी समझ में नहीं आया कि यह "कडली" क्या बला है? यह "भाषा बहता नीर" की शैली में कहें तो मेरे भोजपुरी मन ने मुझ से प्रश्न किया "ई" का कह रहा है? "टूटी-फूटी" बँगला में पूछा, "कडली की

जिनिस? प्रत्युत्तर में मेरी नाक के सामने पके केले की घोर झुलाकर दिखाने लगा, "कडली-कडली"। बाद में पता चला वह कह रहा है – "कदली" पर आकर्षण के लिए उच्चारण को अपनी ओर से रच रहा है "कडली" के रूप में। तब मैंने एक "शिक्षित उड़िया सज्जन" से कहा "उच्च हिन्दी में केले के लिए "कदली" चलता हैं" पर उसने कहा, "सर, दिस इज दि पीपुल्स-वर्ड हियर" (महाशय यहाँ यह सामान्य बोली का शब्द है) इसका अर्थ हुआ कि संस्कृत में जो शब्द पर्यायवाची रूप में आए हैं वे सब कहीं-न-कहीं की जनभाषा के सामान्य शब्द ही हैं। संस्कृत में जब परंपरा रही है तो वह उसकी उत्तराधिकारिणी हिन्दी में भी चलनी ही चाहिए। प्रयोग की रगड़ खाते-खाते 25 या 50 वर्ष में शब्द परिचित हो जाएँगे। तात्पर्य यह है कि अभिधा-लक्षणा-व्यंजना की जरूरतों के अनुसार भाषा को विकसित करने के लिए भाषा बहता नीर के साथ-साथ "भूमावृत्ति" को भी समान महत्त्व दिया जाए। सरलता यदि दरिद्रता का पर्याय हो जाए तो वह हमें मंजूर नहीं। सरलता और समृद्धि दोनों चाहिए।

प्रश्न-अभ्यास

1. भाषा को 'बहता नीर' क्यों कहा गया है?
2. "संस्कृत कूप जल है, पर भाषा बहता नीर।" इस पाठ के आधार पर कबीर के इस कथन का परीक्षण कीजिए।
3. भाषा और नदी की जिन समानताओं का लेखक ने वर्णन किया है, उन्हें उद्घाटित कीजिए।
4. "भाषा बहता नीर" है तो इसमें किसी भी युग, किसी भी क्षेत्र का शब्द अंतर्भुक्त हो सकता है। इसके लिए लेखक ने किन तीन शर्तों पर बल दिया है?
5. हिन्दी की भूमिका आज बहुत बड़ी हो गई है। इस वाक्य से लेखक का क्या अभिप्राय है?
6. प्रादेशिक बोलियों का हिन्दी भाषा के प्रसार में क्या महत्त्व है?
7. निम्नलिखित कथनों पर अपने विचार प्रकट कीजिए:

(क) संदर्भ बदल देने से किसी भी बात का स्वाद और प्रहार भिन्न हो सकता है ?

(ख) लेखक फिल्मकार नहीं, वह शिक्षक भी है।

(ग) साहित्यकार पाठक की अँगुली पकड़कर नहीं चलता बल्कि पाठक साहित्यकार की अँगुली पकड़कर चलता है।

8. संदर्भ सहित व्याख्या कीजिए :

(क) संस्कृत कूप जल . . . . . . अस्तित्व कायम है।

(ख) नदी तो माँ . . . . अंग ही मानते हैं।

9. जिस प्रकार लेखक ने पाठ के आरंभ में क्रियाहीन वाक्यों द्वारा भाषा का स्वरूप अंकित किया है उसी प्रकार निम्नांकित के स्वरूप का उल्लेख कीजिए: साहित्य, कविता, कल्पना, नीति।

नरेन्द्र देव

(1890-1956)

आचार्य नरेन्द्र देव का जन्म उत्तर प्रदेश के सीतापुर नामक नगर में हुआ। उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. और एल.एल.बी. की परीक्षाएँ पास कीं। संस्कृत के साथ हिन्दी, अंग्रेज़ी, पाली, फ़ारसी, उर्दू आदि भाषाओं पर भी उन्हें अधिकार प्राप्त था। इतिहास, समाजशास्त्र और राजनीति के वे प्रकांड पंडित थे। शिक्षा में उनकी विशेष रुचि थी। काशी विद्यापीठ में उन्होंने बहुत दिन तक अध्यापन कार्य किया। बाद में वे विद्यापीठ के प्राचार्य हुए और फिर कुलपति भी। लखनऊ और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भी वे कुलपति रहे। 1937 ई. में उत्तर प्रदेश सरकार ने शिक्षा-सुधार के लिए उनकी अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की, जो 'आचार्य नरेन्द्र देव समिति' के नाम से प्रसिद्ध है।

आचार्य नरेन्द्र देव हिन्दी के समर्थ लेखक और वक्ता थें। भाषा पर उनका सहज अधिकार था। उनके विचार बड़े सुलझे हुए थे, जिसका प्रभाव भाषा-शैली पर भी पड़ा है और वह परिष्कृत तथा परिमार्जित बन गई है। आचार्य नरेन्द्र देव राजनीतिक दृष्टि से समाजवादी विचारधारा के थे। उन्होंने अनेक पुस्तकों का सृजन एवं संपादन का कार्य किया। उनकी प्रमुख पुस्तकें : ''राष्ट्रीयता और समाजवाद'', ''समाजवादः लक्ष्य तथा साधना'', ''समाजवाद और राष्ट्रीय क्रांति'', ''समाजवाद'', ''राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास'', ''बोधिचर्या तथा महायान'', ''अभिधर्म कोश'' आदि हैं। विद्यार्थियों के लिए उन्होंने इंग्लैंड, आयरलैंड, रूस, इटली, अमरीका आदि के इतिहास पर छोटी-छोटी पुस्तकें भी लिखीं।

जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने "बौद्ध धर्म दर्शन" नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की जो उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ और साहित्य अकादमी ने इस पुस्तक पर पुरस्कार भी दिया।

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने जन जागरण तथा आधुनिक समाज-निर्माण में राष्ट्रीयता तथा जनतंत्र की शक्तियों के महत्त्व पर प्रकाश डाला है और इस बात पर बल दिया है कि राष्ट्रीय एकता तथा जीवन और विकास की ओर बढ़ने के लिए हमको इनकी आज भी आवश्यकता है। हमारी सामाजिक असमानता, जात-पाँत और संप्रदाय की क्षुद्र भावना तथा धर्म का राजनीति के लिए उपयोग आदि कारण राष्ट्रीय एकता में बाधक हैं। इन दुर्बलताओं को दूर करके, हम राष्ट्रीयता और जनतंत्र को सही रूप में विकसित कर सकते हैं। इस दृष्टि से नई पीढ़ी को विशेष रूप से सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति जागरूक और चेतना संपन्न बनाने की आवश्यकता है।

7. राष्ट्रीय एकता और जनतंत्र

राष्ट्रीयता और जनतंत्र इन दो शक्तियों ने एशिया के सब देशों में जन जागरण किया है। इन्हीं दो शक्तियों के कारण एशिया वासियों में साम्राज्यवाद का सफल विरोध करने की अद्भुत क्षमता उत्पन्न हुई है। इन्हीं के बरदहस्त का सहारा लेकर भारत स्वतंत्र हुआ है। यही शक्तियाँ आज भी हमारे विचारों और क्रियाकलापों को निश्चित करती हैं। यदि ये शक्तियाँ उन्मुक्त न होतीं और हमको प्रभावित न करतीं तो हमारी निष्कर्मण्यता और हमारे सम्मोह का अंत न होता और विविध जातियों और धार्मिक संप्रदायों में बँटा हुआ हमारा देश एक सूत्र में ग्रथित होकर एक समान भावना से प्रेरित होकर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्रयत्न न करता। इन शक्तियों का प्रादुर्भाव और विकास कैसे हुआ, इस विषय पर विचार करने का यहाँ अवसर नहीं है। हमको इन शक्तियों के स्वरूप और लक्षणों को जानना चाहिए और यह समझना चाहिए कि ये शक्तियाँ आज भी काम कर रही हैं और यदि हमको जीवन और विकास की ओर बढ़ना है तो हमको इनकी आज भी आवश्यकता है।

एकता के जिस कार्य को वंश या धर्म बिरादरियों और संप्रदायों में सिद्ध करता है, राज्य की भौगोलिक सीमा के भीतर वही कार्य राष्ट्रीयता संपन्न करती है। किंतु यह कार्य तभी पूरा हो सकता है जब हम बिरादरी और संप्रदाय की क्षुद्र कुंठा से ऊपर उठना सीखें। भारत को एक सुदृढ़ राष्ट्र में संगठित करने के लिए यह आवश्यक है कि जो प्रतिगामी भाव और शक्तियाँ हमको जात-पाँत और संप्रदाय के छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित करती हैं और हमारी शक्ति को बिखेरती हैं, उनका हम तीव्र विरोध करें।

यही शक्तियाँ अवसर पाकर हमको छिन्न-भिन्न कर देने का प्रयत्न

करती हैं। युग की नवीन शक्तियों ने इन पर भी पूर्ण विजय नहीं प्राप्त की है क्योंकि नवीन भावों ने हम सबके हृदय और मस्तिष्क को अभी पूर्ण रूप से व्याप्त नहीं किया है। इसी सांप्रदायिक भावना के कारण हमारे देश के दो टुकड़े हुए और यदि हम राष्ट्रीयता को पूर्ण रूप से नहीं अपनाते तो देश इसी प्रकार बँटता चला जाएगा। पूर्वी पंजाब में आज मुसलमान शून्य के बराबर हैं किंतु वहाँ हिंदू-सिख प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। दक्षिण में ब्राह्मण-अब्राह्मण प्रश्न है। हमने पाकिस्तान की माँग का मज़ाक किया और अपने मन को यह कहकर ढाँढ़स बँधाया कि इस माँग में कुछ दम नहीं है और श्री जिन्ना अंगेज़ों के एजेंट मात्र हैं। किंतु वह माँग पूरी होकर रही। किंतु आज हमारे स्वतंत्र राष्ट्र में इस प्रकार की प्रादेशिक माँगें प्रस्तुत करना मूर्खता होगी। इन माँगों के मूल में हमारी जात-पाँत, भाषा और धार्मिक संकीर्णता की सांप्रदायिक बुद्धि काम करती है।

राष्ट्र-संगठन के कार्य में यही संकुचित भाव और हमारी सांप्रदायिक बुद्धि काम करती है। राष्ट्र संगठन के कार्य में यही संकुचित भाव बार-बार बाधा डालता है। हमारी सामाजिक व्यवस्था का आधार असमानता रहा है। और इसी कारण हमारे देश में जनतंत्र पनप नहीं पाता तथा राष्ट्रीयता सबल और पुष्ट नहीं हो पाती। हमको समझ लेना चाहिए कि जब तक हम छोटी-छोटी दीवारों को गिरा नहीं देते जो हमको एक-दूसरे से अलग करती हैं, जात-पाँत के तारतम्य को हटा कर और धर्म को अपनी उचित मर्यादा में सीमित रखकर सच्ची राष्ट्रीयता और जनतंत्र की ओर अग्रसर नहीं होते, तब तक हमारा भविष्य अंधकार से आच्छन्न है। प्रत्येक को सामाजिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिए जहाँ तक वह सामाजिक शांति और नैतिकता के प्रतिकूल नहीं है, किंतु उसका राजनीति से कोई संबंध न होना चाहिए। धर्म एक व्यक्तिगत वस्तु है, वह राष्ट्र के कार्य में बाधक क्यों हो? और वह धर्म, धर्म ही क्या है जो दया और न्याय पर आश्रित नहीं है, जो आततायियों और आतंकवादियों से पूर्वजों की रक्षा नहीं करता? किन्तु वास्तविकता यह है कि धर्म का लोग राजनीति के लिए उपयोग करते हैं और जनता की सांप्रदायिक बुद्धि होने के कारण जनता इन लोगों के हाथ में खेलती है।

राज्य को किसी धर्म में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। किन्तु ऐसे उपाय अवश्य सोचने चाहिए जो इस सांप्रदायिक बुद्धि को विनष्ट करने में समर्थ हों।

केवल यह उपदेश देना पर्याप्त नहीं है कि हिन्दू-मुसलमान-सिख आदि को परस्पर प्रेम से रहना चाहिए। हमको अपनी दुर्बलता के कारण ढूँढ़ने चाहिए और उनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस समय एक ऐसे उदार सांस्कृतिक आंदोलन की आवश्यकता है जो हमारे दूषित मन को विशुद्ध करे और युग के अनुकूल हममें नए संस्कार संपन्न कर हमको उदार बुद्धि प्रदान करे। जन्म-जन्मांतर के संचित संस्कारों को विनष्ट करने के लिए कोई एक उपाय पर्याप्त नहीं होगा। सांप्रदायिक बुद्धि को विनष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि वे बातें जिनका धर्म से संबंध नहीं होना चाहिए, क़ानून से निश्चित हों। उदाहरण के लिए, सब संप्रदायों के मानने वालों के लिए एक से क़ानून होने चाहिए : हिन्दू क़ानून, मुस्लिम क़ानून के भेद मिटा देने चाहिए। इसी प्रकार हम धीरे-धीरे आचार की समानता और एकरूपता ला सकेंगे और आचार की विविधता को बहुत कुछ घटा सकेंगे। और भी कई उपाय हैं जिन पर विचार किया जा सकता है। किन्तु सबका आधार यही है कि सबकी ऐसी शिक्षा-दीक्षा होनी चाहिए जिससे आचार की एकरूपता सिद्ध हो और सब राष्ट्रीयता और जनतंत्र के महत्त्व को समझें और उनके अनुकूल अपने आचरण को बनाएँ।

इस दृष्टि से नई पीढ़ी पर उचित ध्यान देने की आवश्यकता है। हमारे नवयुवकों के ज्ञान का विस्तार होना चाहिए। उनकी जानकारी हर दिशा में बढ़नी चाहिए। जब वे अपनी आँखों के सामने बनते हुए इतिहास का ठीक-ठीक अध्ययन करेंगे और उन शक्तियों को पहचानेंगे जो आज नए समाज का निर्माण कर रही हैं और धीरे-धीरे सकल जगत् को एक कर रही हैं, तब उनकी संकीर्णता दूर होगी और उनकी दृष्टि व्यापक और उदार होगी। इस सामाजिक जागरूकता और चैतन्य की अत्यंत आवश्यकता है और जितनी मात्रा में इसकी वृद्धि होगी, उतनी मात्रा में हमारे नवयुवक नवनिर्माण-कार्य में परिशोधित बुद्धि से कार्य करेंगे। नैतिकता की शिक्षा देने से ही सद्बुद्धि और सदाचार की पुष्टि नहीं

होगी। जब जीवन का एक लक्ष्य निश्चित होगा, जब उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए लगन उत्पन्न होगी, तब चरित्र आप ही एक नए साँचे में ढलने लगेगा। साथ ही साथ जनसाधारण के ज्ञान के स्तर को विस्तृत करना होगा। यह काम रेडियो आदि के द्वारा होना चाहिए। प्रौढ़-शिक्षा की ओर भी अधिक ध्यान देना होगा। जनतंत्र जीवन का एक ढंग है। हम इसके अभ्यस्त नहीं है, हमारी समाज-व्यवस्था इसमें बाधक है। इसको भी बदलना होगा। यह सब काम अत्यंत आवश्यक है और जब तक ये मौलिक कार्य नहीं होते तब तक हमारी उन्नति नहीं होगी।

हमको यह नहीं देखना है कि दूसरे क्या करते हैं, प्रतिशोध और विद्वेष की भावना से किया हुआ काम कभी ठीक नहीं होता। हमको अपना लाभ देखना है और अपने सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा करनी है। मैं निःसंकोच कहना चाहता हूँ कि यदि हमने अपनी सांप्रदायिक बुद्धि का परित्याग नही किया और जात-पाँत के भेदभाव को मिटाया नहीं तो हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे। अब सारा राष्ट्र तभी बन सकेगा जब भारत के भीतर रहने वाले सभी लोग बिना लिहाज धर्म, संप्रदाय, प्रांत और जात के भारतीय समाज के निर्माण में परस्पर सहयोग करेंगे और एक दूसरे के साथ एक देश के नागरिक होने के नाते समानता और स्नेह का व्यवहार करेंगे। हमको राष्ट्रीय प्रश्नों पर राष्ट्र के हित की दृष्टि से विचार करना चाहिए और अपने छोटे स्वार्थों को तिलांजलि देना चाहिए।

यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो मानना पड़ेगा कि सांप्रदायिक एकता की कितनी आवश्यकता है। परस्पर का विद्वेष बंद होना चाहिए और सबके सब स्वत्वों की रक्षा होनी चाहिए और प्रत्येक को इस प्रकार आचरण करना चाहिए जिससे वह दूसरों का विश्वासपात्र बन सके। आज का अविश्वास और संदेह का वातावरण घातक है, यदि इसे दूर नहीं किया गया तो यह रोग संक्रामक हो सकता है। उसका इलाज जल्द होना चाहिए और इलाज वही है जो ऊपर बताया गया है। यह संकोच का युग नहीं है, यह अंतर्राष्ट्रीयता का युग है। इस युग में संकीर्ण भावों को पनपने देना आज विनाश को निमंत्रण देना है और युगधर्म की अवहेलना करना है। युग की अंतरात्मा उदारता चाहती है और मानव को मानव से पृथक्

करने के जितने प्रकार चले आ रहे हैं उनका ध्वंस चाहती है। यह कार्य होकर रहेगा। प्रतिगामी शक्तियाँ कहीं-कहीं कुछ काल के लिए विजयी हो जाएँ किन्तु अंत में मानव-धर्म की विजय होगी। जो व्यक्ति और समूह समाज का विकास चाहते हैं और समझते हैं कि मानव मात्र का कल्याण इसी में है कि युग की माँग का समर्थन किया जाए, उन सबको सांप्रदायिक विद्वेष को शांत करने के लिए समवेत चेष्टा करनी चाहिए।

प्रश्न-अभ्यास

1. आधुनिक भारत के निर्माण में राष्ट्रीयता और जनतंत्र का क्या योगदान है?
2. बिरादरी और संप्रदाय की कुंठा राष्ट्रीय एकता में किस प्रकार बाधक है ?
3. प्रतिगामी भाव और शक्तियों से क्या तात्पर्य है? वे हमारे विकास में किस प्रकार बाधक सिद्ध होते हैं ?
4. सांप्रदायिक बुद्धि से क्या आशय है ? उसे विनष्ट करने के लिए क्या उपाय किए जाने चाहिए ?
5. राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीय निर्माण के लिए नई पीढ़ी को किस प्रकार तैयार करने की आवश्यकता है।
6. हमारे देश में अनेक धर्म, भाषाएँ और संस्कृतियाँ हैं। इस संदर्भ में सबके लिए एकसमान क़ानून और आचार संहिता का सिद्धांत कहाँ तक उचित है?
7. हमारी वर्तमान समाज-व्यवस्था के वे कौन से अवांछित तत्त्व हैं जो जनतंत्र को पनपने नहीं दे रहे हैं?
8. निम्नलिखित कथनों का आशय स्पष्ट कीजिए :
   (क) यदि हमको जीवन और विकास की ओर बढ़ना है तो आज भी राष्ट्रीयता और जनतंत्र की आवश्यकता है ।
   (ख) हमारी सामाजिक व्यवस्था का आधार असमानता रहा है और इसी कारण हमारे देश में जनतंत्र पनप नहीं पाता तथा राष्ट्रीयता सबल और पुष्ट नहीं हो पाती।
   (ग) वह धर्म-धर्म ही क्या है जो दया और न्याय पर आश्रित नहीं।
9. निम्नलिखित अवतरणों की सप्रसंग व्याख्या कीजिए :
   (क) ''हमको समझ लेना चाहिए कि जब तक हम छोटी-छोटी दीवारों को... .... हमारा भविष्य अंधकार से आच्छन्न है।''
   (ख) ''यह संकोच का युग नहीं है .... अंत में मानवधर्म की विजय होगी।''
10. ''धर्म का राजनीति में हस्तक्षेप एकता के विकास में बाधक है।'' इस विषय पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

गुलाबराय

(1887-1963)

बाबू गुलाबराय का जन्म इटावा (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा मैनपुरी में हुई। उन्होंने दर्शनशास्त्र में एम.ए. और एल. एल. बी. की परीक्षा पास की।

गुलाबराय जी आरंभ में छतरपुर नरेश के निजी सचिव नियुक्त हुए। वहाँ रहते हुए उन्होंने स्वाध्याय को जारी रखा। छतरपुर से सेवामुक्त होने के बाद वे आगरा में बस गए और जीवन-पर्यन्त साहित्य साधना करते रहे। उन्होंने "साहित्य संदेश" नामक आलोचना-पत्रिका का काफी लंबे समय तक संपादन किया। आगरा विश्वविद्यालय ने उन्हें मानद डी.लिट्. की उपाधि से सम्मानित किया था।

बाबू गुलाबराय ने साहित्य के अतिरिक्त दर्शन, धर्म, राजनीति, समाज, मनोविज्ञान, विज्ञान, व्यापार-वाणिज्य आदि विषयों पर भी लिखा है। साहित्यिक ग्रंथों में "सिद्धांत और अध्ययन", "काव्य के रूप", "हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास", "मेरी असफलताएँ", "अध्ययन और आस्वाद", "मेरे निबंध", "मन की बात" विशेष उल्लेखनीय हैं। साहित्यिक रचनाओं के साथ-साथ उन्होंने जीवनोपयोगी विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाई। उनकी ऐसी रचनाओं में "विज्ञान वार्ता", "विज्ञान विनोद", "बौद्ध धर्म", "राष्ट्रीयता", "जीवनपथ", "विद्यार्थी-जीवन", "प्रबंध प्रभाकर", आदि उल्लेखनीय हैं। उनकी रचनाओं में हास्य का पुट विशेष रूप से मिलता है। वे अपनी बात एक सफल अध्यापक की भाँति स्पष्ट करते चलते हैं और बीच-बीच में आवश्यकतानुसार उपयुक्त उद्धरण भी प्रस्तुत करते हैं।

दूषित अहम् पाठ में लेखक ने मुनष्य की अहंकार-भावना का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि अहंकार कुछ सीमा तक सामाजिक व्यवहार के लिए आवश्यक है। पर दूसरी ओर वह सामाजिक पार्थक्य, परस्पर कलह और भेदभाव को जन्म देने के कारण दूषित प्रवृत्ति की श्रेणी में आता है। हमारा व्यक्तिगत अहंकार, जातीय अहंकार अथवा प्रांतीय अहंकार जब राष्ट्रीय तथा मानवता आदि में समा जाता है, तभी वह उदार और उपयोगी बन पाता है।

8. दूषित अहम्

"यदि हम चाहते हैं कि हम अपने देश का पुनर्निर्माण करने में सफल हों और हमारा देश भारत उस प्रतिष्ठा और गौरव को कायम रख सके जो उसने स्वतंत्रता के बाद दूसरे राष्ट्रों की नज़रों में पाई है, तो हमें जात-पाँत, संप्रदाय, प्रांत और भाषा के संकीर्ण पक्षपात के ऊपर उठना होगा। यदि हम अपने को संगठित करके इन प्रवृत्तियों का मुकाबला नहीं करते तो हम उन्नति के उन सब अवसरों को खो देंगे, जो हमें अपनी स्वतंत्रता से प्राप्त हुए हैं। हम अपने देशवासियों की आशाओं पर पानी फेर देंगे ओर यह साबित कर देंगे कि हमने अपने इतिहास से कोई सबक नहीं सीखा।

मैं अपने सब देशवासियों से हृदय से इन बातों पर विचार करने का अनुरोध करता हूँ कि वे केवल कारखानों की उन्नति नहीं बल्कि उन भावों के विकास पर भी ध्यान दें जिन पर हमारे राष्ट्र की स्वतंत्रता और अस्तित्व निर्भर है। वे अपने में निष्ठा, देशभक्ति, राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य का ध्यान और देश के प्रति व्यक्तिगत सच्चा प्रेम और जिम्मेदारी का भाव भरें।"

– राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद (1960 के 15 अगस्त के संदेश से)

यद्यपि अहंकार को एक दूषित वृत्ति माना गया है तथापि वह सामाजिक व्यवहार के लिए आवश्यक है। अहंकार व्यक्तित्व का परिचायक होता है। व्यक्तित्व ही संसार में रंग-बिरंगापन, वैविध्य, नानात्व और सजीव संपन्नता पैदा करता है। बिना व्यक्तित्व के हम चाहे अखंड मंडलाकर, चराचर में व्याप्त ब्रह्म बन जाएँ किंतु निर्जीव और नीरस रहेंगे। मायाजन्य "मैं और मोर" जीवन को सरसता प्रदान करता

है। माया का फंदा नश्वरता की ओर ले जाता हुआ भी जीवन लालसा को जीवित रखता है। यह अहंकार व्यक्तियों का तो होता ही है, संस्थाओं, समाजों और देशों का भी होता है। यह एक प्रकार का सामूहिक व्यक्तित्व है।

इस व्यक्तित्व की जो जीवन में सरसता और रसीलापन प्रदान करता है, निर्दोष और सदोष सीमाएँ हैं। जहाँ तक यह व्यक्तित्व, वह चाहे व्यक्ति का हो, चाहे समाज का हो, अपनी विशेषताओं पर आरूढ़ रहता हुआ समाज, देश और संसार की चित्रमयी सुव्यवस्था में योगदान करने के लिए होता है वहाँ तक यह ठीक है, और जहाँ वह "वयं-वयं" और "यूयं-यूयं" की नीति को अपनाता हुआ पार्थक्य की भावना को पोषण देता है तथा व्यक्तियों, वर्गों और समाजों के हितों से टकराहट पैदा कर व्यक्ति, वर्ग और समाज में ऊँच-नीच की भावना या उस पर आधारित विद्रोहात्मक संघर्ष उत्पन्न कर देता है, वहीं वह दूषित हो जाता है।

व्यक्तियों का संघर्ष भी राष्ट्र के हित का बाधक होता है क्योंकि उसमें भी सामाजिक व्यवस्था भंग होती है। किंतु यहाँ पर हम सामूहिक अहम् की दूषित सीमा की ही चर्चा करेंगे यद्यपि राष्ट्रीयता भी एक सदोष भाववृत्ति मानी जाती है तथापि हम अपनी सीमा के भीतर रह कर राष्ट्रीयता को विस्तारोन्मुख अहमों में (जैसे जातिवाद, संप्रदायवाद, प्रांतीयता आदि में) एक क्षम्य इकाई मानते हैं। विश्व की नागरिकता या "वसुधैव कुटुंबकम्" के मानने वालों से मेरा कोई विरोध नहीं।

जाति, संप्रदाय और प्रांत की इकाइयाँ भी अपना निर्दोष-पक्ष रखती हैं। (आजकल प्रांतीयता से मिलती-जुलती भाषाओं के आधार पर विभाजन की प्रवृत्ति चल पड़ी है) ये इकाइयाँ हैं तो संकुचित और झगड़ों की जड़, किंतु अपना अपना महत्त्व रखती हैं। ये मनुष्य को उसके वैयक्तिक एवं संकुचित स्वार्थों से ऊँचा उठकर अपने समाज या वर्ग के हितों के लिए बलिदान कराना सिखाती हैं। अपनी जाति, संप्रदाय या वर्ग के लोगों की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहना, और अपने वर्ग के लोगों को राष्ट्र की सेवा के लिए एक उपयोगी इकाई बनाना, यहाँ तक तो कोई बुरी बात नहीं, बुराई वहाँ से शुरू होती है जहाँ इन संकुचित

इकाइयों के पास्परिक प्रेम में बाँधने वाले संबंध-सूत्र दृढ़ पार्थक्य रेखाएँ बनकर घृणा और द्वेष के बीज बोने लग जाते हैं। लोग एक दूसरे से ही वैर नहीं करने लगते वरन् देश से भी द्रोह करने लग जाते हैं। "धर्म और संस्कृति खतरे में हैं" के नारे लगाने लगते हैं। लोग अपनी संकुचित संस्कृति की रक्षा के लिए मूल मानव संस्कृति पर पदाघात कर हत्या तक पर उतारू हो जाते हैं। धार्मिक आधार पर विभाजन के दुष्परिणाम हम देख चुके हैं। विभाजन से भेद-भाव बढ़ता है और अहंभाव के बढ़ने से द्रोह और जय-पराजय की स्पर्धा भी बढ़ती है। हमारे गर्व की भावना एक संकुचित इकाई पर तो बढ़ जाती है किंतु वृहत् इकाई पर कम हो जाती है। देश हमारी स्वामिभक्ति से वंचित हो जाता है।

जाति, संप्रदाय, भाषा, प्रांत के बंधन यदि उचित सीमा से बाहर हो जाएँ तो राष्ट्रहितों में बाधक हो सकते हैं। जातीय पार्थक्य भावना देश में भेद-भाव उत्पन्न कर देश को कमजोर बना सकती है। जाति के बंधन यदि ब्याह-शादी तक ही सीमित रहे और उनसे बाहर जाने की स्वतंत्रता न रहे, कोई किसी को जाति के नाम पर आतंकित न करे, सामाजिक व्यवस्था में सब जातियों का महत्त्व बराबर समझा जाए और जातिवाद के सहारे सार्वजनिक सेवाओं में पक्षपात या भेदभाव न हो, तो जातिवाद राष्ट्रीयता के साथ चल सकता है, उसमें भी सामूहिक अहं को मारना होगा।

सांप्रदायिकता में जहाँ तक अपने धर्म की दृढ़ता रखी जाए वहाँ तक ठीक है, अपने धर्म पर दृढ़ता के साथ परधर्म सहिष्णुता भी चाहिए। हमको यह न समझना चाहिए कि सत्य पर हमारा ही एकाधिकार है। "एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति" दूसरों को अपने दृष्टिकोण से प्राप्त किए हुए सत्य का उतना ही अधिकार है जितना कि हमको अपने द्वारा स्वीकृत सत्य के मानने का। एक ही संप्रदाय में जहाँ सुख सुविधाएँ और सार्वजनिक सेवाएँ केन्द्रित होने लगती हैं वहाँ राष्ट्रीयता की हत्या होती है।

आजकल के द्रुत-यातायात के दिनों में देश का कोना-कोना एक हो गया है। धर्म, प्रांत और जाति की साधारण व्यवहार में कोई परवाह नही करता। भाषाओं के भेद भी अभेद्य नहीं हैं। असमी, बंगाली एक

दूसरे को समझ सकते हैं, हिन्दी और पंजाबी में बहुत भेद नहीं है। बंगाली, असमी, हिन्दी और पंजाबी की सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि एक है, हिन्दी और पंजाबी दोनों के ही धर्म-ग्रंथ रामनाम को महत्ता देते हैं। गुरु नानक, गुरु गोविंदसिंह, कबीर और दादू हिंदू और सिख दोनों के मान्य हैं। हिंदी, गुजराती, बँगला, पंजाबी, असमी सबकी वर्णमाला एक है, केवल लिपि भिन्न है, फिर भी आपस में झगड़ा रहता है। भारत की सभी भाषाओं को संविधान में सम्मानपूर्ण स्थान मिला है। सभी भाषाएँ राष्ट्र भाषाएँ हैं, सबके कवि राष्ट्र के कवि हैं। रविबाबू बंगाली के ही कवि नहीं हैं वे भारतीय विचारधारा के प्रमुख गायक हैं। मणिपुर के नृत्यों पर कुल भारत को गर्व है। दक्षिण के आचार्य सारे भारत के आचार्य हैं। हिंदू तीर्थ सारे भारत में फैले हुए हैं। उद्योग केंद्रों से सारा भारत लाभान्वित हो रहा है, रेलों और हवाई जहाज़ों से प्रांतीय भेद मिट जाते हैं, फिर भी कभी-कभी अहमों की टकराहट हो जाती है। प्रांतीय भाव जाग्रत हो झगड़ा पैदा कर देते हैं। राष्ट्र को हानि पहुँचती है। हमें राष्ट्र को मुख्यता देनी चाहिए। हमारे जीवन के लिए राष्ट्र का हित सर्वोपरि है।

हम चाहे जिस प्रांत में रहें भारतवासी पहले हैं। हम हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध होते हुए भी भाई-भाई हैं। अनेकता में एकता और वैविध्य में साम्य भारत की विशेषता है। समन्वय और साम्य में पार्थक्य को स्थान नहीं, थोड़े सामूहिक अहम् को नियंत्रित रखने की आवश्यकता है, अपेक्षाकृत संकुचित अहम् को नियंत्रण में रख हम सारे भारत के सामूहिक गर्व में भाग लेने का आनंद ले सकेंगे, फिर भी हमको अंतर्राष्ट्रीय नैतिक बंधनों से बँधा रहना पड़ेगा। हमारे सामने भक्तियों का प्रश्न है, हम किस भक्ति को वरिष्ठता दें? धर्म, जाति, प्रांत सब राष्ट्र से बँधे हुए हैं। राष्ट्र के साथ सबको सहअस्तित्व और समन्वय संभव है। ''संघे शक्तिर्कलौयुगें'' हम पार्टियों, जातियों, उपजातियों, संप्रदायों और प्रांतों में बाँट कर देश को संघशक्ति से वंचित न कर दें। हमारे सांप्रदायिक, प्रांतीय, भाषायी एवं जातीय अस्तित्व को कायम रखने के लिए स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता आवश्यक है। हाथी के पैर के समान जातीयता, प्रांतीयता के अहंवाद देश और राष्ट्र के अहम्में समा जाना चाहिए, ''धर्मोरक्षति रक्षितः'' की भाँति 'देशो रक्षति रक्षितः''।

प्रश्न-अभ्यास

1. भाषा, धर्म और भौतिक विकास के आधार पर बताइए कि भारतवर्ष की अनेकताओं में भी एकता विद्यमान है।
2. अहंकार की प्रवृत्ति सामाजिक व्यवहार के लिए क्यों आवश्यक है?
3. किन स्थितियों में अहंकार दूषित हो जाता है?
4. वैयक्तिक अहम् और सामूहिक अहम् से लेखक का आशय क्या है?
5. जाति, संप्रदाय और प्रांत की इकाइयाँ सामान्यतः संकुचित और झगड़ों की जड़ होकर भी क्यों महत्त्वपूर्ण हैं?
6. निम्नलिखित पंक्तियों की व्याख्या कीजिए :
   (क) समन्वय और साम्य में पार्थक्य को स्थान नहीं, थोड़े सामूहिक अहम् को नियंत्रित रखने की आवश्यकता है।
   (ख) हाथी के पैर के समान जातीयता, प्रांतीयता के अहंवाद, देश और राष्ट्र के अहम् में समा जाना चाहिए।
7. गुलाबराय की भाषा-शैली की एक बड़ी विशेषता उसका उद्धरण प्रधान होना है। पाठ से चार उद्धरणों का चयन कर उक्त कथन की पुष्टि कीजिए।
8. "भारत की भावात्मक एकता" पर मैथिलीशरण गुप्त, रामधारी सिंह "दिनकर" और गोपाल सिंह नेपाली आदि की कविताओं तथा आजकल की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली ऐसी अन्य कविताओं का एक संकलन तैयार कीजिए।

रामविलास शर्मा

(1912)

रामविलास शर्मा का जन्म 10 अक्तूबर, 1912 ई. को उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले में ऊँच गाँव सानी में हुआ। उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी में एम.ए. किया और पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त करके 1938 ई. में वहीं अंग्रेज़ी विभाग में अध्यापन कार्य करने लगे। 1943 से 1974 ई. तक वे बलवंत राजपूत कॉलेज, आगरा में अंग्रेज़ी विभागाध्यक्ष रहे। इसके बाद कुछ समय तक वे कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी हिन्दी विद्यापीठ, आगरा के निदेशक रहे। संप्रति वे अवकाश-प्राप्ति के बाद विभिन्न विषयों पर शोधकार्य एवं लेखन में संलग्न हैं।

शर्मा जी प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति के आधार-स्तंभ रहे हैं। प्रगतिशील लेखक संघ के मंत्री के रूप में मार्क्सवादी साहित्य दृष्टि को समझने का उन्हें भरपूर अवसर मिला। साहित्य को मार्क्सवाद के संदर्भ में देखकर उन्होंने साहित्य-समीक्षा को नवीन दिशा प्रदान की। प्रचलित साहित्यिक मान्यताओं पर तीखा प्रहार करते हुए उन्होंने कबीर, तुलसी, भारतेन्दु आदि का पुनर्मूल्यांकन किया। ''प्रगति और परंपरा'', ''आस्था और सौन्दर्य'', ''विराम चिह्न'', ''कथा विवेचन'', और ''गद्य-शिल्प'' आदि संग्रहों में संकलित निबंधों में उक्त प्रवृत्तियों को सहज ही देखा जा सकता है। उन्होंने 'हंस' के कविता विशेषांक का संपादन किया और आगरा से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'समालोचक' के दो वर्ष तक संपादक रहे। इसके दौरान उनकी निर्भीकता का परिचय हमें मिलता है।

शर्मा जी की ख्याति समीक्षक के रूप में अधिक है। निबंधकार के

रूप में भी उन्होंने समीक्षात्मक निबंध ही अधिक लिखे हैं। उनकी स्वतंत्र आलोचनात्मक कृतियों में 'प्रेमचंद और उनका युग'', ''निराला की साहित्य-साधना'' (तीन भाग), ''भारतेन्दु हरिश्चंद्र''हैं।

''भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास-परंपरा'', ''महावीर प्रसाद द्विवेदी'' और ''हिन्दी नवजागरण'', ''भाषा और समाज'', ''भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी'' (तीन भाग) आदि उल्लेखनीय हैं। ''भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद'' (दो खंड) उनके इतिहास-बोध को प्रमाणित करने वाली रचना है। आत्मकथा-शैली में रचित 'घर की बात'' उनकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें एक ओर उनके परिवार और परिजनों का लगभग सौ वर्ष का इतिहास समाविष्ट है, तो दूसरी ओर इसे किसी सीमा तक उक्त दौर का सामाजिक इतिहास भी कहा जा सकता है।

शर्मा जी की निबंध-लेखन-शैली कहीं विचार-बोझिल है तो कहीं व्यंग्य-प्रधान। स्पष्ट कथन के कारण उनकी शैली में पर्याप्त ओजस्विता लक्षित होती है। अपने कथ्य को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने तदनुकूल भाषा का प्रयोग किया है। उनकी भाषा में सामान्यतः संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रमुखता है। किंतु अंग्रेज़ी, उर्दू आदि भाषाओं के प्रचलित शब्दों का भी उन्होंने यथेष्ट प्रयोग किया है।

प्रस्तुत निबंध शर्मा जी के ''विराम चिह्न'' शीर्षक निबंध-संग्रह से ''यथास्मै रोचते विश्वम्'' नामक लेख का परिवर्तित शीर्षक है। इसमें उन्होंने कवि की तुलना प्रजापति से करते हुए उसे उसके कर्म के प्रति सचेत किया है। लेखक के अनुसार साहित्य जहाँ एक ओर मनुष्य को मानसिक विश्रांति प्रदान करता है वहीं उसे उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा भी देता है। सामाजिक प्रतिबद्धता साहित्य की कसौटी है। ''पंद्रहवीं'' शताब्दी से आज तक के साहित्य के अध्ययन-मूल्यांकन के लिए शर्मा जी ने इसी जनवादी साहित्य चेतना को मान्यता दी है।

9. कवि प्रजापति

प्रजापति से कवि की तुलना करते हुए किसी ने बहुत ठीक लिखा था – ''यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते'' कवि को जैसे रुचता है वैसे ही संसार को बदल देता है।

यदि साहित्य समाज का दर्पण होता तो संसार को बदलने की बात न उठती। कवि का काम यथार्थ जीवन को प्रतिबिंबित करना ही होता तो वह प्रजापति का दर्जा न पाता। वास्तव में प्रजापति ने जो समाज बनाया है, उससे असंतुष्ट होकर नया समाज बनाना कवि का जन्मसिद्ध अधिकार है। यूनानी विद्वानों के बारे में कहा जाता है कि वे कला को जीवन की नकल समझते थे और अफलातून ने असार संसार को असल की नकल बताकर कला को नकल की नकल कहा था। लेकिन अरस्तू ने ट्रेजडी के लिए जब कहा था कि उसमें मनुष्य जैसे हैं उससे बढ़कर दिखाए जाते हैं, तब नकल नवीस कला का खंडन हो गया था। और जब वाल्मीकि ने अपने चरित्र-नायक के गुण गिनाकर नारद से पूछा कि ऐसा मनुष्य कौन है? तब नारद ने पहले यही कहा – ''बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः''। दुर्लभ गुणों को एक ही पात्र में दिखाकर आदि कवि ने समाज को दर्पण में प्रतिबिंबित न किया था वरन् प्रजापति की तरह नई सृष्टि की थी।

कवि की यह सृष्टि निराधार नहीं होती। हम उसमें अपनी ज्यों-की-त्यों आकृति भले ही न देखें, पर ऐसी आकृति ज़रूर देखते हैं जैसी हमें प्रिय है, जैसी आकृति हम बनाना चाहते हैं। जिन रेखाओं और रंगों से कवि चित्र बनाता है, वे उसके चारों ओर यथार्थ जीवन में बिखरे होते हैं और चमकीले रंग और सुघर रूप ही नहीं, चित्र के पार्श्वभाग में काली छायाएँ भी वह यथार्थ जीवन से ही लेता है। राम के साथ वह

रावण का चित्र न खींचे तो गुणवान, वीर्यवान, कृतज्ञ, सत्यवाक्य, दृढ़व्रत, चरित्रवान, दयावान, विद्वान, समर्थ और प्रियदर्शन नायक का चरित्र फीका हो जाए और वास्तव में उसके गुणों के प्रकाशित होने का अवसर ही न आए।

कवि अपनी रुचि के अनुसार जब विश्व को परिवर्तित करता है तो वह भी बताता है कि विश्व से उसे असंतोष क्यों है, वह यह भी बताता है कि विश्व में उसे क्या रुचता है जिसे वह फलता-फूलता देखना चाहता है। उसके चित्र के चमकीले रंग और पार्श्व-भूमि की गहरी काली रेखाएँ – दोनों ही यथार्थ जीवन से उत्पन्न होते हैं। इसलिए प्रजापति कवि गंभीर यथार्थवादी होता है, ऐसा यथार्थवादी जिसके पाँव वर्तमान की धरती पर हैं और आँखें भविष्य के क्षितिज पर लगी हुई हैं।

इसलिए मनुष्य साहित्य में अपने सुख-दुःख की बात ही नहीं सुनता, वह उसमें आशा का स्वर भी सुनता है। साहित्य थके हुए मनुष्य के लिए विश्रांति ही नहीं है, वह उसे आगे बढ़ने के लिए उत्साहित भी करता है।

यदि समाज में मानव-संबंध वही होते जो कवि चाहता है, तो शायद उसे प्रजापति बनने की ज़रूरत न पड़ती। उसके असंतोष की जड़ ये मानव-संबंध ही हैं। मानव-संबंधों से परे साहित्य नहीं है। कवि जब विधाता पर साहित्य रचता है, तब उसे भी मानव-संबंधों की परिधि में खींच लाता है। इन मानव-संबंधों की दीवार से ही हैमलेट की कवि सुलभ सहानुभूति टकराती है और शैक्सपियर एक महान ट्रैजडी की सृष्टि करता है। ऐसे समय जब समाज के बहुसंख्यक लोगों का जीवन इन मानव संबंधों के पिंजड़े में पंख फड़फड़ाने लगे, सींकचे तोड़कर बाहर उड़ने के लिए आतुर हो उठे, उस समय कवि का प्रजापति रूप और भी स्पष्ट हो उठता है। वह समाज के द्रष्टा और नियामक के मानव-विहग से क्षुब्ध और रुद्धस्वर को वाणी देता है। वह मुक्त-गगन के गीत गाकर उस विहग के परों में नई शक्ति भर देता है। साहित्य जीवन का प्रतिबिंब रहकर उसे समेटने से संगठित करने और उसे परिवर्तित करने का अजेय अस्त्र बन जाता है।

पंद्रहवीं–सोलहवीं सदी में हिन्दी साहित्य ने यही भूमिका पूरी की

थी। सामंतीं पिंजड़े में बंद मानव-जीवन की मुक्ति के लिए उसने वर्ण और धर्म के सींकचों पर प्रहार किए थे। कश्मीरी ललदेद, पंजाबी नानक, हिन्दी सूर-तुलसी-मीरा-कबीर, बंगाली चंडीदास, तमिल तिरुवल्लुवर आदि-आदि गायकों ने आगे-पीछे समूचे भारत में उस जीर्ण मानव-संबंधों के पिंजड़े को झकझोर दिया था। इन गायकों की वाणी ने पीड़ित जनता के मर्म को स्पर्श कर उसे नए जीवन के लिए बटोरा, उसे आशा दी, उसे संगठित किया और जहाँ-तहाँ जीवन को बदलने के लिए संघर्ष के लिए आमंत्रित भी किया।

सत्रहवीं और बीसवीं सदी में बंगाली रवीन्द्रनाथ, हिन्दी भारतेन्दु, तेलगु वीरेशलिंगम्, तमिल भारती, मलयाली वल्लतोल आदि आदि ने अंग्रेज़ी राज और सामंती अवशेषों के पिंजड़े पर फिर प्रहार किया। एक बार फिर उन्होंने भारत की दुःखी पराधीन जनता को बटोरा, उसे संगठित किया, उसकी मनोवृत्ति बदली, उसे सुखी स्वाधीन जीवन की तरफ़ बढ़ने के लिए उत्साहित किया।

साहित्य का पाञ्चजन्य समर-भूमि में उदासीनता का राग नहीं सुनाता। वह मनुष्य को भाग्य के आसरे बैठने और पिंजड़े में पंख फड़फड़ाने की प्रेरणा नहीं देता। इस तरह की प्रेरणा देने वालों के वह पंख कतर देता है। वह कायरों और पराभव प्रेमियों को ललकारता हुआ एक बार उन्हें भी समर भूमि में उतरने के लिए बुलावा देता है। भरत मुनि से लेकर भारतेन्दु तक चली आती हुई हमारे साहित्य की यह गौरवशाली परंपरा है। इसके सामने निरुद्देश्य कला, विकृति काम-वासनाएँ, अहंकार और व्यक्तिवाद, निराशा और पराजय के ''सिद्धांत'' वैसे ही नहीं ठहरते जैसे सूर्य के सामने अंधकार।

अभी भी मानव-संबंधों के पिंजड़े में भारतीय जीवन-विहग बंदी है। मुक्त-गगन में उड़ान भरने के लिए वह व्याकुल है। लेकिन आज भारतीय जनजीवन संगठित प्रहार करके एक के बाद एक पिंजड़े की तीलियाँ तोड़ रहा है। धिक्कार है उन्हें जो तीलियाँ तोड़ने के बदले उन्हें मजबूत कर रहे हैं, जो भारत भूमि में जन्म लेकर और साहित्यकार होने का दंभ करके मानव मुक्ति के गीत गाकर भारतीय जन को पराधीनता और पराभव का पाठ पढ़ाते हैं। ये द्रष्टा नहीं है, इनकी आँखें अतीत की

ओर हैं। ये स्रष्टा नहीं हैं, इनके दर्पण में इन्हीं की अहंवादी विकृतियाँ दिखाई देती हैं। लेकिन जिन्हें इस देश की धरती से प्यार है, इस धरती पर बसने वालों से स्नेह है, जो साहित्य की युगांतरकारी भूमिका समझते हैं, वे आगे बढ़ रहे हैं। इनका साहित्य जनता का रोष और असंतोष प्रकट करता है, उसे आत्मविश्वास और दृढ़ता देता है, उनकी रुचि जनता की रुचि से मेल खाती है और कवि उसे बताता है कि इस विश्व को किस दिशा में परिवर्तित करना है।

प्रजापति की अपनी भूमिका भूलकर कवि दर्पण दिखाने वाला ही रह जाता है। वह ऐसा नकलची बन जाता है जिसकी अपनी कोई असलियत न हो। कवि का व्यक्तित्व पूरे वेग से तभी निखरता है जब वह समर्थ रूप से परिवर्तन चाहने वाली जनता के आगे कवि-पुरोहित की तरह आगे बढ़ता है। इसी परंपरा को अपनाने से हिन्दी-साहित्य उन्नत और समृद्ध होकर हमारे जातीय सम्मान की रक्षा कर सकेगा।

प्रश्न-अभ्यास

1. लेखक ने कवि की तुलना प्रजापति से किस आधार पर की है ?
2. कवि के लिए राम के साथ रावण का चित्रण क्यों आवश्यक हो जाता है ?
3. कवि काव्य की रचना किस भाँति करता है?
4. "साहित्य थके हुए मनुष्य . . . . करता है।" इस कथन का भाव-विस्तार कीजिए।
5. "मानव-संबंधों से परे साहित्य नहीं है। " यह उक्ति जिस संदर्भ में कही गई है, उसका वर्णन कीजिए।
6. "साहित्य समाज का दर्पण नहीं है।" विषय पर लगभग सौ शब्दों में अपने विचार प्रकट कीजिए।
7. पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी में हिन्दी साहित्य ने कौन सी सामाजिक भूमिका पूरी की थी?
8. साहित्य का पाञ्चजन्य मनुष्य को क्या प्रेरणा देता है ?
9. निम्नलिखित से क्या अभिप्राय है ?

   (क) कवि-सुलभ सहानुभूति

(ख) निरुद्देश्य कला
(ग) पिंजड़े की तीलियाँ
(घ) कवि-पुरोहित

10. निम्नलिखित अवतरणों की सप्रसंग व्याख्या कीजिए।
(क) जिन रेखाओं और रंगों में .... यथार्थ से ही लेता है।
(ख) धिक्कार है उन्हें .... दिखाई देती है।

गजानन माधव मुक्तिबोध

(1917–64)

गजानन माधव मुक्तिबोध का जन्म ग्वालियर के श्योपुर कस्बे में हुआ, जहाँ सौ साल पहले उनके पूर्वज आ बसे थे। पिता पुलिस सब-इंसपेक्टर थे, जिनकी बार-बार बदली होने के कारण मुक्तिबोध की पढ़ाई का क्रम टूटता-जुड़ता रहा। सन् 1954 में उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए. करने के बाद राजनाद गाँव (म.प्र.) के डिग्री कॉलेज में अध्यापन-कार्य आरंभ किया और जीवन पर्यन्त वहीं रहे। इस प्रकार वे शिक्षक, पत्रकार, पुनः शिक्षक, सरकारी और गैर-सरकारी नौकरियाँ पकड़ते-छोड़ते रहे।

मुक्तिबोध का जीवन संघर्षों और विरोधों के बीच बीता। उन्होंने विविध दार्शनिक विचारधाराओं का गंभीर अध्ययन किया। उनकी प्रतिभा का सर्वप्रथम परिचय उस समय हुआ जब 'अज्ञेय' द्वारा संपादित तारसप्तक (1943) में उनकी रचनाएँ प्रकाशित हुईं।

मुक्तिबोध मुख्य रूप से कवि रूप में प्रसिद्ध हैं, किंतु उनका गद्य साहित्य भी काफी सशक्त और बहु-आयामी है। उन्होंने आलोचना, निबंध, संस्मरण, रिपोर्ताज आदि गद्य की विधाओं में लिखकर हिंदी गद्य को समृद्ध किया है। उनके गद्य साहित्य में विषयों की विविधता है और दृष्टिकोण एवं विवेचन में गंभीरता, तार्किकता तथा विशदता है। उनकी भाषा-शैली प्रांजल है जो विषय प्रतिपादन की प्रौढ़ता के अनुरूप है।

मुक्तिबोध की कविताओं के संग्रह "चाँद का मुँह टेढ़ा है" और "भूरी-भूरी खाक-धूल" नाम से प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त दो कहानी-संग्रह, "विपात्र" नामक एक उपन्यास "कामायनी : एक

पुनर्विचार'' तथा ''एक साहित्यिक की डायरी'' आदि उनकी अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। मुक्तिबोध के संपूर्ण साहित्य को राजकमल प्रकाशन ने ''मुक्तिबोध रचनावली'' नाम से छह खंडों में प्रकाशित किया है।

''कलात्मक अनुभव'' एक मनोविश्लेषणात्मक निबंध है जो ''नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र'' पुस्तक से लिया गया है। इसमें लेखक ने प्रथमतः भाव विकास की क्रमिक प्रक्रिया का सहज-सरल वर्णन प्रस्तुत किया है। हमारे बचपन से ही मनोमय जीवन का आरंभ हो जाता है जो जीवन पर्यन्त चलता रहता है। हम जो कुछ देखते-सुनते हैं और अनुभव करते हैं उनसे ही हमारा मनोजगत् समृद्ध-संवर्धित होता जाता है। तत्पश्चात् मानवता स्वाभाविक संवेदनशीलता और कल्पना-प्रवणता का वर्णन प्रस्तुत किया है। अनुभवों और कल्पनाओं के आधार पर मानव अपने जीवन की पुनर्रचना करता जाता है जिसमें मनन का भी योगदान है।

10. कलात्मक अनुभव

बाल्यकाल से ही हमारा मनोमय जीवन आरंभ हो जाता है। कल्पना कीजिए ऐसे बालक की जो आसपास के जगत् की संवेदनाएँ ग्रहण कर, फिर उस जगत् के बिम्बों को अपने मन में घुमाता-फ़िराता हो। अपनी माँ से मिलने आने वालों के वह चेहरे देखता रहता है। उनके वस्त्र, उनके मुख की आभा-रेखाएँ, उनके व्यवहार की विशेषताएँ देख-देखकर, वह बालक उनके संबंध में, उनके जीवन के संबंध में तरह-तरह की कल्पनाएँ करके आत्मलीन होता रहता है। वे कल्पना-चित्र कभी उसे रुला दें, या उदास कर दें, या कभी हँसा दें, अथवा एक अपरिसीम कुतूहल उद्दीप्त कर दें। मुख्य बात यह है कि संवेदनाएँ, भावनाएँ, बोध-शक्ति, परस्पर-सहकार करके उसे निराले जगत् में ले जाती हैं। वह निराला जगत् कल्पना का लोक है, फिर भी वह वास्तविक जगत् की प्रतिमाओं ही से बना हुआ है। उस जगत् में वास्तविक स्वप्न के रंग हैं। बालक मन उसमें डूब जाता है।

कभी पड़ोसी के यहाँ कोई दुर्घटना हो जाती है। बालक उस दुर्घटना के मनोमय चित्र बनाता रहता है। उसे पता चलता है कि वहाँ एक नन्हा मर गया। मरने के पहले (माँ ने बताया था) जोर की साँस चली थी। भयानक साँस !! बालक उस साँस की कल्पना करता है !! उस नन्हे को कौन सी वेदनाएँ होती होंगी। कौन-सी तकलीफ होती होगी!! उसकी माँ का जी किस तरह रोता होगा !! उसके जी पर क्या बीती होगी!! बालक का हृदय इन काल्पनिक चित्रों में भीगता रहता है।

और, न जाने किस नियम से, बालक का हृदय और कहीं बह जाता है। अच्छा तो वे अपने को बहुत बड़ा समझते हैं!! माँ को और पिता को यह अच्छा नहीं लगता फिर भी वे उनकी आवभगत करते हैं।

बड़ी मेहमानदारी होती है। हमें भले ही चाय का एक कप भी न मिले, लेकिन उनकी सेवा जरूर होगी। उनके बड़े-पने से माँ, बाबूजी दबे-दबे रहते हैं!! आखिर, इसकी जरूरत क्या है!! सिर्फ इसलिए कि वे कहीं तहसीलदार हैं!!

माँ कहती हैं बब्बू के साथ मत खेलो!! क्यों न खेलें!! वह कहती हैं बब्बू चपरासी का लड़का है। ऐसे लड़के बुरे होते हैं। ग़रीबों के लड़कों को तमीज नही होती। उन्हें बुरी-बुरी आदतें होती हैं, वे गुंडे होते हैं। वे खोमचे वाले से दो पैसे के भजिये खाते हैं। लेकिन, मैले-कुचैले ग़रीबों के ये जो लड़के हैं, उनके चेहरे कहाँ बुरे हैं!! क्या हँसी, क्या किलकारी, कैसी बढ़िया शरारत, कैसी घनी उदासी और प्यारी नजर !! ग़रीबों के लड़के भी तो अच्छे हो सकते हैं। पता नहीं क्यों, माँ घर के अर्दलियों से तो दिल की बात करती है, लेकिन मुझे बब्बू के साथ खेलने नहीं देतीं। यह बुरी बात है। आज़ादी कितनी अच्छी होती है। कब मैं बड़ा हूँगा, पूरा आज़ाद हो जाऊँगा!! कब, कब वह दिन कब आएगा!! आखिर क्या हुआ अगर मैले-कुचैले रहें तो !! बब्बू से तो खेल सकेंगे, नाथू के घर जाकर बात तो कर सकेंगे !! नाथू की माँ बड़ी अच्छी हैं, मुझे गुलगुले देती हैं। लेकिन, घर से निकलने को मिले तब न !!

पिताजी कहते हैं कि कृष्णाराव नौकरी से निकाल दिए गए!! इसलिए तो लच्छू का चेहरा कितना उतरा हुआ था, अब उनके घर में कैसी सूनी-सूनी , पीली-पीली, गहरी-गहरी उदासी होगी। सबकी चालें ढीली हो गई होंगी, सबके कंधे झुक गए होंगे, सबके बाल बिखरे-बिखरे होंगे। लोग कैसे थके-थके से चलते होंगे, उनके गले में रुआँसी का काँटा कसकता होगा। लच्छू मारा-मारा फिरता होगा।

कृष्णा काका बहुत अच्छे हैं, मुझे प्यार करते हैं। पास बिठा लेते हैं, चाय का एक घूँट मुझे भी देते हैं। मैं उनके यहाँ जाऊँगा, उन्हीं के यहाँ रहूँगा। लच्छू उदास है। आज उसी के साथ खेलूँगा। कृष्णा काका का चेहरा देखता रहूँगा, उनके पैर दाबूँगा। हमारी काकी इतनी अच्छी नहीं हैं, वह मुझे ''बड़े आदमी का लड़का'' कहती हैं। मुझे दूर-दूर रखती हैं। लच्छू के यहाँ फटा टाट है, हमारे यहाँ आराम-कुर्सियाँ हैं।

लच्छू के यहाँ कैसी भन्नाती हुई गहरी उदासी है, हमारे यहाँ चहल-पहल!! लेकिन, जब अपने घर कृष्णा काका मुझे गोद में ले लेते हैं, तो लच्छू खड़ा-खड़ा ताकता रहता है। उसकी माँ मुझे दूर-दूर भले ही रखे, जी होने पर, वह मुझे शक्कर फाँकने को भी देती है। लेकिन लच्छू !! न जाने उसके दिल में क्या है !! मेरा क्या गुनाह कि मैं बड़े आदमी का लड़का हूँ। मैंने कौन सा पाप किया!! कहो तो यह निकर, यह साफ शर्ट उतारकर फेंक दूँ!! लेकिन क्या करूँ, माँ बहुत डाँटती है। तो क्या हुआ!! लच्छू भले ही अकड़े, मैं जान बूझकर उसे हँसाऊँगा, उससे खेलूँगा, उसकी उदासी तोड़ दूँगा। लच्छू आखिर कृष्णा काका का लड़का है। आज लच्छू उदास है, बहुत उदास !! आज मैं उससे ज़रूर खेलूँगा। उसके आगे नाचूँगा !! अगर वह जी-भर भी मुसकरा उठे, मज़ा आ जाएगा। कृष्णा काका खूब खुश होंगे। लेकिन, ऐसा क्यों होता है !! कृष्णा काका की नौकरी क्यों छूट जाती है !! वे तो बड़े शांत स्वभाव के हैं !!

वे प्राइवेट नौकरी क्यों करते हैं !! नाना कह रहे थे सरकार उन्हें नौकर नहीं रखती। कहते हैं बरसों पहले, जब मेरा जन्म भी नहीं हुआ था, उनके घर से बम मिले थे, बंदूकें भी, तमंचे भी। तब से उनका भाग्य फिरा। सज़ा काटकर आए। क्या होती है सज़ा। बड़ी-बड़ी दीवारें, काल कोठरी। हाथ-पाँव में जंजीरें!! चक्की पीसनी पड़ती है, चक्की! . . . . . . घर उजड़ गया। अब मुनीमी करते हैं। कोई उन्हें पूछता नहीं। घर वाले हमारे नाना, पिताजी सब-सब उन्हें बेवकूफ़ कहते हैं। कहते हैं उन्होंने बीच में एक अखबार भी निकाला और चौपट हो गए। अब तो सरकारी नौकरी मिल ही नहीं सकती।

लेकिन मैं भी कितना टुच्चा हूँ। उनसे एक दिन रास्ते में इकन्नी माँग बैठा !! उन्होंने एक इकन्नी निकाल कर दे दी। पिताजी बड़े नाराज़ हुए। उससे इकन्नी क्यों ली !! कृष्णाराव के लिए उनके मन में दया भाव है। मुझे वह पसंद नहीं। कृष्णा काका एक इकन्नी तो क्या, मुझे सब कुछ दे सकते हैं, सिवाय मार के।

लेकिन टुच्चा तो मैं हूँ ही। नाना ने कल रामायण सुनाई। उनकी नीली चादर मुझे पसंद है, और उसके भीतर दुबका बैठा उनका गोरा

अंग। कहानी कहते-कहते मुझसे ज़्यादा हँसते हैं। उन्होंने कहा कि जीव-हत्या पाप है। लेकिन, रोज़ खुद खटमल मारते हैं। जो हो, जीव-हत्या पाप जरूर है। मरते वक्त कितनी तकलीफ़ होती होगी जीव को। कल बारिश हुई। गली पानी से भर गई। पानी में लगातार छेद पड़ते जा रहे थे। बड़ा मज़ा आ रहा था। एक जीव फँस गया। शायद, झींगुर था। मैंने पानी में से उसे अलग करना चाहा। लेकिन, मेरी कोशिशें बेकार हुईं। वह दूर था। मैं डंडे से उसे पास खींच रहा था। वह तड़प रहा था। भयानक थी उसकी छटपटाहट। पता नहीं, मुझ पर क्या भूत सवार हुआ। उसकी तड़पन से मेरे दिल में कुछ ऐसी तड़पन हुई कि मैंने निशाना लगाकर उसे डंडा दे मारा। वह खत्म हो गया। मेरे हाथ से पाप हुआ। वह चला गया, मुझे छोड़ गया, सिर्फ तड़पने के लिए। अपने दुःख में, पराये दुःख में। बार-बार सपना आया है, उस तड़पते झींगुर का, जो पानी में औंधा पड़ा था और हाथ-पैर मार रहा था।

बालक स्वभावतः संवेदनशील होता है, उसमें कल्पनाशीलता भी तीव्र होती है, उसका जीवन-निरीक्षण भी। मुख्य बात यह है कि वह अपने अनुभवों के आधार पर, कल्पना द्वारा, जीवन की पुनर्रचना करता है, अपने अनुसार। कल्पना के रंगों में डूबी इस जीवन की पुनर्रचना के रंग निस्संदेह भावुक हैं। इन चित्रों के रंग में डूबकर वह उन्हीं चित्रों से प्राप्त संवेदनाओं में भावुक होकर रम जाता है। अपने मनोमय जीवन के इन क्षणों में, जब वह उन चित्रों में तन्मय होकर, उनमें प्रस्तुत हुए जीवन की संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ ग्रहण करने लगता है, उस समय, वास्तविक बाह्य से क्रिया-प्रतिक्रिया करने में व्यस्त और ग्रस्त रहने वाले मन को बहुत पीछे छोड़ देता है, उसके ऊपर उठ जाता है, उसके परे हो जाता है। संक्षेप में, एक ओर उसकी मुक्ति हो जाती है तो दूसरी ओर उसी के साथ एकबद्धता आ जाती है। तटस्थता और तन्मयता, दूरी और सामीप्य का द्वंद्व, उच्चतर स्तर पर, एकीभूत हो जाता है।

बाह्य जीवन जगत् के रूप स्वरूप और गति-प्रगति के जो अपने नियम हैं वे इस पुनर्रचित जीवन के नहीं। पुनर्रचित जीवन किसी संवेदना की पूर्ति के लिए ही होता है। उसकी चित्रमाला उन्हीं संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में दौड़ती है। दूसरे शब्दों में पुनर्रचित जीवन

लोक की अपनी ऑटोनॉमी है, उसका अपना एक स्वायत्त तंत्र है। किंतु, उसकी यह ऑटोनॉमी, यह स्वायत्त तंत्र सापेक्ष्य है, क्योंकि वह 'वास्तविक जीवनानुभवों' के ठोस आधार पर खड़ा हुआ है और उसके बिना वह असंभव है। ध्यान में रखने की बात केवल इतनी है कि इस पुनर्रचना का अपना एक स्वायत्त तंत्र होने के बावज़ूद, उसके मूलतत्व, वास्तविक जीवन के अनुभूत तथ्यों में से ही, अर्थात् हृदय में संचित जीवन अनुभवों में से इस प्रकार उद्‌गंत होते हैं मानो वे अपने जिए जाने वाले जीवन की सारभूत विशेषताएँ हैं।

इस प्रकार का मनोमय जीवन और उसका अनुभव, वस्तुतः कलात्मक है। उसी से हमें उस आह्लाद की प्राप्ति होती है, जिसमें एक ओर ज्ञान का प्रकाश है तो दूसरी ओर जीवन का आनंद!!

इस प्रकार के अनुभव बालकों से लेकर वृद्धों तक होते हैं, कवियों से लेकर अकवियों तक होते हैं, मज़दूर से लेकर संपन्न व्यक्ति तक होते हैं। लेखकों से श्रोताओं तक होते हैं। इन्हीं अनुभवों को हम कलात्मक अनुभव या सौन्दर्य अनुभव कहते हैं। केवल मनुष्य ही सौन्दर्यानुभव प्राप्त कर सकते हैं, पशु नहीं।

मनोमय जीवन के कुछ क्षण ऐसे भी होते हैं जब मन एक ओर अपने से तो परे हो जाता है, अपने से तो ऊपर उठकर सोचता है, किंतु दूसरी ओर संवेदनात्मक उद्‌देश्यों की प्रबलता इतनी नहीं होती कि कल्पना उद्‌दीप्त होकर जीवन का पुनर्विधान करे। मनुष्य एक ओर अपने विशिष्ट सुख-दुःख का भोक्ता है तो दूसरी ओर वह उनका द्रष्टा भी है। अपने से परे जाने, दूसरों से अपने को मिलाने, ज्ञान तथा बोध द्वारा विशिष्टों का सामान्यीकरण करने और सार-सार पहचानने और ग्रहण करने की उसमें अद्‌भुत शक्ति है। कलात्मक अनुभव की घटना के पूर्व और निजबद्धता की स्थिति से उबरने के क्षण के पश्चात् जो एक बीच की हालत पैदा होती है, उस हालत में संवेदनात्मक उद्‌देश्यों की सापेक्षिक मंदता के कारण मात्र द्रष्टा-स्थिति के रूप में रहने पर हमारे मन में जो धाराएँ बहती रहती हैं, उन्हें हम एक प्रकार का मनन ही कह सकते हैं। मनोमय जीवन में, ऐसा जीवन-मनन चलता रहता है।

प्रश्न-अभ्यास

1. लेखक ने किस प्रकार के मनोमय जीवन और उसके अनुभव को कलात्मक कहा है ?
2. बालक के कल्पनालोक और वास्तविक जगत् में क्या संबंध है ?
3. "बालक-मन सर्वथा निश्छल और भेदभाव से परे होता है" कुछ उदाहरण देकर इस कथन की सार्थकता सिद्ध कीजिए।
4. पानी में डूबते हुए झींगुर का प्रसंग बालक के मनोमय जीवन का कौन सा पक्ष उद्‌घाटित करता है ?
5. कृष्णा काका के परिवार की विपन्नता का बालक-मन पर क्या प्रभाव पड़ता है? उनके प्रति अपनी आत्मीयता किस रूप में प्रकट करना चाहता है?
6. मनोमय जीवन के रंगीन क्षणों में बालक-मन किस स्थिति को प्राप्त कर लेता है ?
7. लेखक के मन की किस प्रक्रिया को मनन की संज्ञा दी है?
8. आशय स्पष्ट कीजिए :
   (क) बाल्यकाल से ही हमारा मनोमय जीवन आरंभ हो जाता है।
   (ख) तटस्थता और तन्मयता, दूरी और सामीप्य का द्वंद्व, उच्चतर स्तर पर, एकीभूत हो जाता है।
   (ग) पुनर्रचित जीवन लोक की अपनी ऑटोनॉमी है।
   (घ) इस प्रकार का मनोमय जीवन और उसका अनुभव वस्तुतः कलात्मक है। उसी से हमें उस आह्लाद की प्राप्ति होती है जिसमें एक ओर ज्ञान का प्रकाश है तो दूसरी ओर जीवन का आनंद।
   (ङ.) मनुष्य एक ओर अपने विशिष्ट सुख-दुःख का भोक्ता है तो दूसरी ओर वह उनका द्रष्टा भी है।
9. इस पाठ के आधार पर गजानन माधव मुक्तिबोध की किन्हीं तीन भाषागत विशिष्टताओं का उल्लेख कीजिए।
10. बालक के भावात्मक विकास पर अपने अनुभवों के आधार पर कक्षा में चर्चा कीजिए।

शब्दार्थ एवं टिप्पणियाँ

देश-प्रेम

उदात्त वृत्ति	महान् भावना
इतिहास शून्य	जिसका इतिहास न हो
आलंबन	भाव का विषय
साहचर्यगत	साथ रहने से उत्पन्न
सान्निध्य	निकटता
गुल्म	झाड़
प्रणय सौरभ पूर्ण मंजरी	मादक गंध से युक्त आम का बौर
परता	दर, भाव
तड़ाग	तालाब
कलधौंत	चाँदी
परचना	निकट की जान-पहचान हो जाना
प्रवर्तक	किसी काम को आरंभ करने वाला
कछार	नदी के किनारे की जमीन
अमराई	आम की बगिया
साँची का स्तूप	भोपाल (मध्य प्रदेश) के समीप साँची में स्थित महात्मा गौतम बुद्ध के अवशेषों पर निर्मित स्तूप, जिसका निर्माण-काल 250 ई. पू. है।
पुरातत्व	प्राचीन वस्तुओं, कला आदि के अनुसंधान से संबंधित विद्या

बदलते रंगों में

स्टीमर (अं.)	पानी का छोटा जहाज

हार्बर (अं.)	बंदरगाह
समुद्रकपोत	समुद्री कबूतर
अवचेतन	आंतरिक चेतना
शोध प्रोजेक्ट	शोध-परियोजना
तबेले	अस्तबल, घुड़साल
सुरमई	सुरमे के रंग का, हलका नीला
रुपहला	चाँदी जैसे रंग का
कौंधती	चमकती
जलचर	जल में विचरण करने वाले जीव
सुर्ख	लाल
ताँबई	ताँबे जैसे रंग वाला
उसाँस	दुःख सूचक साँस
आवर्त	भँवर, चक्कर
निस्तब्धता	चुप्पी

जीने की कला

प्रतिपादन	पूरा करना
तद्विषयक	उस विषय का
अनुगामिनी	पीछे चलने वाली
तूलिका	कूँची
मंत्रपाठी शुक	रटे रटाए मंत्रों का पाठ करने वाला तोता
सत्यं ब्रूयात्	सत्य बोलो
क्रोध-जित	जिसने क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली है, क्रोध न करने वाला
निर्जीव	जड़
शिथिल	ढीला
निदर्शन	उदाहरण
आहुति	बलिदान

कुटीर	कुटिया
अमानुषिक यंत्रणा	बर्बरतापूर्ण उत्पीड़न
अर्धांगिनी	पत्नी
विडंबना	छलना, उपहास का विषय
क्रीतदासी	खरीदी गई दासी
परिचर्या	सेवा
मद्यप	शराबी
इंगित मात्र	संकेत मात्र
अट्टालिका	ऊँचा भवन
भगिनी	बहन
'क्वचित् कुमाता न भवति'	माँ कभी कुमाता नहीं होती
अप्रतिम	बेजोड़
निष्पंद	हरकतहीन, चुपचाप
कंटकाकीर्ण	काँटों से भरा

भीष्म को क्षमा नहीं किया गया !

भर्त्सना	तिरस्कार, निंदा
अभिभूत	भाव में डूबा हुआ
महादुरंत	जिसका पार पाना बहुत कठिन हो
नज़ीर	किसी मुकदमे का वह फैसला जो उसी ढंग के दूसरे मुकदमे में मिसाल के तौर पर पेश किया जाए
भीष्माष्टमी	माघ शुक्ल अष्टमी जब भीष्म ने प्राण त्यागे
आविष्ट	आवेश युक्त
शांति निकेतन	रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा संस्थापित शिक्षा-संस्थान
क्षितिमोहन सेन	शांति-निकेतन-स्थित विद्याभवन के तत्कालीन अध्यक्ष तथा संत काव्य के विशेषज्ञ

गुरुदेव	रवीन्द्र नाथ ठाकुर
परवर्ती	बाद के समय का
हहरा उठना	सिहरना
ब्राह्मी स्थिति	ब्रह्म को अनुभव करने की स्थिति
मनीषी	मननशील (विद्वान्)
महामना	उदार हृदय वाला
देवव्रत	भीष्म (महाभारत में भीष्म का नाम देवव्रत कहा गया है)
अपहृता	जिसका अपहरण किया गया हो
सत्यस्य वचनं श्रेय सत्यादपि हितं वदेतः	सत्य बोलना कल्याणकारी है, सत्य से भी बढ़कर कल्याणकारी वचन है

निन्दा रस

साइक्लोन	चक्रवात, वह तेज और धूलभरी आँधी जो गोल चक्कर काटती हुई बहे ।
धृतराष्ट्र की भुजाएँ	धृतराष्ट्र जन्मांध थे, किंतु उनकी भुजाओं में बड़ी शक्ति थी। ऐसा प्रसिद्ध है कि महाभारत युद्ध के उपरांत जब उन्हें मालूम हुआ कि उनके ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन सहित सभी पुत्र भीम के ही हाथों मारे गए हैं तो उनके मन में भीम से प्रतिशोध लेने की इच्छा जगी । उन्होंने व्यक्त रूप में भीम की प्रशंसा की और उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की। श्री कृष्ण धृतराष्ट्र के मंतव्य को भाँप गए और उन्होंने भीम के स्थान पर लोहे की एक मूर्ति आगे बढ़ाकर कहा कि भीम खड़े हैं । कहते हैं कि धृतराष्ट्र ने लोहे

	की मूर्ति को अपनी भुजाओं से इतने जोर से दबाई कि वह चूर-चूर हो गई।
नागफनी	एक विशेष प्रकार का कैक्टस का पौधा जिसमें टहनियों की जगह केवल साँप के फण के आकार के काँटेदार दल होते हैं, जो चुभकर बड़ी पीड़ा पहुंचाते हैं।
कैटलॉग	सूची
आँगन कुटी छवाय	अपने आँगन में ही कुटिया बना कर। निंदकों के संबंध में कबीर का प्रसिद्ध दोहा है. निंदक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय। बिन साबुन पानी बिना, निरमल करे सुभाय।।
मिशनरी	पदारियों की संस्था जो बड़ी लगन एवं तत्परता से अपना कार्य करती है, लगन एवं तत्परता से काम करने की भावना।
ट्रेड यूनियन	मजदूरों का संघ जो उनकी भलाई, वेतन-वृद्धि आदि के लिए संघषं करता है।
बहुजत हिताय	बौद्ध धर्म का एक लक्ष्य जिसके अंतर्गत अधिकाधिक लोगों की भलाई एवं सुख के लिए कार्य करना होता है, ''बहुजन हिताय बहुजत सुखाय''।
इंद्र	देवताओं के राजा जो वर्षा के देवता के रूप में भी प्रसिद्ध हैं और जिन्होंने वज से वृत्रासुर का वध किया था।
सत्य-कल्पित कलंक-कथा	दूसरों को बदनाम करने के लिए गढ़ी हुई कहानी जो सत्य जैसी लगे
चेखव	अंतोव पाब्लोविच चेखव (1860-1904) रूसी कथा-साहित्यकार। प्रेमचंद के मत में ''चेखव संसार के सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखक हैं।''
पिलपिले अहम्	दुर्बल मन

भाषा बहता नीर

प्रवहमान	बहती हुई
अवांतर	गौण
ढेलेबाजी	कटु आलोचना
थीसिस	मत, सच्चापन
पावस	वर्षा ऋतु
तुहिन व्योम	तुषाराच्छादित आकाश (तुहिन श्वेत कणों के रूप में जमी भाप है जो प्रायः ऊँचे पर्वतों पर छाई रहती है।)
हिमवाह	हिमनद
तुषार	बर्फ़
राशिभूत	ढेर
तृषा तोषक अमृत वारि	प्यास बुझाने वाला अमृत जल
हृदय कपाट	हृदय-द्वार
अंतः सलिला	अंदर ही अंदर प्रवाहित होने वाली नदी
छिन्न	कटा हुआ
हिमाक़त	नासमझी
मरुत-प्राण	वायु के समान सर्वत्र संचार करने वाली
कलरोर	कलरव
श्वापद	हिंस्र पशु
महातामसी	जिसमें तमोगुण की अधिकता हो
उच्छ्वास	लंबी साँसें लेकर आह भरना
मुदित चक्षु सुख	प्रसन्न आँखों से प्रकट होने वाला सुख
अंतर्भुक्त	भीतर समाया हुआ
दुरूह	कठिन
कूट	गूढ़
घुनाक्षर (घुणाक्षर न्याय)	बिना प्रयास किया जाने वाला न्याय
प्रत्यूह	विघ्न
वेदांत	ब्रह्मविद्या (उपनिषद् और आरण्यक के

	अंतिम भाग जिनमें आत्मा, परमात्मा और जगत् का निरूपण किया गया है।
लुकाठी	लाठी, डंडा
ऋद्धि-सिद्धि	संपन्नता और सफलता
परिप्रेक्ष्य	संदर्भ
अनंतशायी	अनंतकाल से सोया हुआ
भूमावृत्ति	समृद्धिशाली बनने की वृत्ति
आहरण	ग्रहण
जिनिस	पदार्थ, वस्तु (जिंस)
केले की घौर	केले का घौद (गुच्छा)

राष्ट्रीय एकता और जनतंत्र

वरदहस्त	वर देने वाला हाथ, संरक्षण
क्रिया-कलाप	कार्य-समूह
निष्कर्मण्यता	काम न करने की भावना
सम्मोह	भ्रांति
ग्रथित	गुँथा हुआ
प्रादुर्भाव	जन्म
कुंठा	निराशा के कारण बनी मानसिक ग्रंथि
आच्छन्न	ढका हुआ
आततायी	अत्याचारी
हस्तक्षेप	दखल देना
प्रतिशोध	बदला
स्वत्व	अधिकार
समवेत	सामूहिक
प्रतिगामी भाव	पीछे ले जाने वाले भाव, प्रगतिशील का विलोम
उदार सांस्कृतिक आंदोलन	उदार दृष्टि वाला ऐसा आंदोलन जो विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय पर बल देता है

सामाजिक जागरूकता और चैतन्य	सामाजिक समस्याओं और परिस्थितियों के प्रति सचेत और जागरूक होना
परिशोधित बुद्धि	शुद्ध बुद्धि, उचित बुद्धि
युग की अंतरात्मा	युग-चेतना
अवहेलना	उपेक्षा
बापा	ठक्कर बापा – गांधीवादी विचारधारा के प्रसिद्ध समाज सेवी ठक्कर बापा का जन्म 29 नवंबर सन् 1869 ई. को भावनगर (गुजरात) में हुआ। उनका असली नाम अमृतलाल था । वे आजीवन आदिवासियों, हरिजनों एवं दलित वर्गों की सेवा में लगे रहे । उनका निधन 19 जनवरी सन् 1951 ई. को हुआ

दूषित अहम्

दूषित अहम्	अपनी सत्ता के बोध को दोष-युक्त बना लेना
वैविध्य	विभिन्नता
अखंड मंडलाकार	संपूर्ण ब्रह्मांड का निर्माता
मायाजन्य	अविद्या से उत्पन्न
मैं और मोर	मेरे-तेरे की संकुचित भावना
आरूढ़ रहता हुआ	जमकर चलने वाला
वयं-वयं, यूयं-यूयं	हम-हम हैं, तुम-तुम हो की भेद-भावना
पार्थक्य	अलगाव
भाववृत्ति	भावना
विस्तारोन्मुख अहम्	व्यक्ति के संकुचित दायरे से निकलकर समूह के दायरे तक विस्तृत होता अहम्
क्षम्य	क्षमा किए जाने योग्य

वसुधैव-कुटुम्बकम्	संपूर्ण संसार को कुटुम्ब (परिवार) मानना
पदाघात	पैरों से चोट पहुँचाना
साम्राज्यवादी	विस्तारवादी, अन्य देशों को अपने अधीन करने की इच्छा वाला
स्पर्द्धा	दूसरे से आगे बढ़ने की इच्छा
परधर्म सहिष्णुता	अपने से भिन्न धर्म के प्रति सहनशील
एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति	एक ही सत्य को विद्वान् अलग-अलग ढंग से कहते हैं
समन्वय	मेल-जोल
सहअस्तित्व	अपनी सत्ता के साथ दूसरे की सत्ता को स्वीकार करना
संघे शक्तिर्कलौयुगे	कलियुग में संघ (एक जुटता) में ही शक्ति का निवास है
प्रभुसत्ता	अपना पूर्ण अधिकार, परमसत्ता
अहंवाद	''मैं'' की प्रबलता का भाव
धर्मोरक्षति रक्षितः	सुरक्षित धर्म रक्षा करता है
देशो रक्षति रक्षितः	सुरक्षित देश रक्षा करता है

कवि : प्रजापति

प्रजापति	सृष्टिकर्ता, ब्रह्मा
अफलातून	यूनान का एक प्रसिद्ध विद्वान् और दार्शनिक जो अरस्तू का गुरु और सुकरात का शिष्य था।
असार-संसार	सारहीन जगत्
नकल-नवीस	वह सरकारी कर्मचारी जो सरकारी काग़ज़ों की प्रतिलिपि बनाता है
बहवोदुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः	आपके द्वारा बतलाए गए गुणों वाले मनुष्य इस संसार में कठिनाई से ही पाए जाते हैं

सुघर	सुंदर
पार्श्वभाग	मूल भाग के समीप का अंश
रुद्ध	रुका हुआ
पांचजन्य	श्री कृष्ण के शंख का नाम
भरतमुनि	संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ "नाट्यशास्त्र" के रचयिता
द्रष्टा	(भविष्य की ओर) देखने वाला

कलात्मक अनुभव

मनोमय	जीवन, जिसमें मन सक्रिय हो जाता है
संवेदना	समग्र अनुभूति
आत्मलीन	स्वयं में ही लीन रहना
अपरिसीम	सीमा से अधिक
उद्दीप्त	उत्तेजित
बोध शक्ति	सोचने-समझने की शक्ति
परस्पर-सहकार	आपसी सहयोग
वेदना	पीड़ा
जी	मन
अर्दली (अं.)	"आर्डरली" का हिंदी रूप, आज्ञा-पालन के लिए तत्पर सेवक
गुलगुले	आटे में गुड़ या खाँड़ मिलाकर तेल या घी में तलकर बनाया जाने वाला पकवान
संवेदनशील	महसूस कर सकने की क्षमता वाला
जीवन निरीक्षण	जीवन के व्यापारों को बारीकी से देखना
पुनर्रचना	प्रकृति द्वारा रचित जीवन की अपने मन के द्वारा पुनः रचना करना
संवेदनात्मक	अनुभूति परक
ऑटोनॉमी (अं.)	स्वायत्तता

स्वायत्त-तंत्र	स्वयं के अधीन व्यवस्था
सापेक्ष्य	जहाँ किसी दूसरी वस्तु या भाव के अस्तित्व के साथ ही किसी अन्य वस्तु या भाव का अस्तित्व संभव हो
कलात्मक	सौंदर्यात्मक
आह्लाद	हर्ष से उत्पन्न आनंद
सौंदर्यानुभव	सौन्दर्य का अनुभव
प्रबलता	अधिकता
पुनर्विधान	पुनर्रचना
भोक्ता	भोगने वाला
सामान्यीकरण	सर्वस्वीकृत नियम
निजबद्धता	अपने से ही बँधे रहना
मनन	समझने के लिए बार-बार विचार करना

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING